



अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

जुलाई २०२१

'साधना के लिए प्रवेशिका'

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

विषय-सूची

‘साधना के लिए प्रवेशिका’ (श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
यह जानना कि हम क्यों जीते हैं	४
अस्तित्व क्या है	६
हमारे ज्ञान से छिपा मौलिक सत्य	८
साधना क्यों करनी है	९
योग में कौन है साधक और क्या है साधना	१२
उद्घाटन कैसे किया जाये	१४
श्रद्धा की हमसे माँग	१६
अपने अन्दर की भागवत उपस्थिति की खोज	२२
समर्पण से शुरू होती है योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया	२५
साधना का रहस्य	२७
बुनियादी आवश्यकता—आत्मोत्सर्ग	२९
जीवन के गूढ़ रहस्य की कुञ्जी	३१
साधना के तीन पहलुओं पर मार्गदर्शन	३४
एकमात्र आवश्यकता : सदैव भगवान् की उपस्थिति में रहना	३९
हमेशा याद रखो	४२
परिशिष्ट : मुझे हमेशा अपने साथ रखो	उदार दा ४३

‘पुरोधे’ :

दुनिया को बदलने का नुस्खा	कनिष्ठा ४४
प्रभो! दशग्रीव आपकी शरण में आ रहा है	वन्दना ४९
स्फुट वचन	(आवरण ३)



सन्देश

... कठिनाई यह है कि तुम सब चमत्कार-भरी परियों की कहानी के से परिवर्तन की आशा करते दीखते हो। तुम यह अनुभव ही नहीं करते कि मेरी साधना का लक्ष्य एकाग्रता के साथ और तेज़ी से होने वाला विकास है और इसके लिए कोई विशेष विधि भी होनी चाहिये। ऊपर के तत्त्वों की नीचे के तत्त्वों पर क्रिया भी होनी चाहिये जिसमें साथ ही बीच के आवश्यक अन्तरालों का भी समाधान होता जाये—यह नहीं कि सृष्टि के आकस्मिक चमत्कार से चीज़ झट एक नियत तारीख़ पर पूरी हो जाये। यह अतिमानसिक प्रक्रिया है, परन्तु युक्तिशून्य प्रक्रिया नहीं। जो किया जाना है वह तो होगा ही और शायद बड़े वेग से भी हो, लेकिन वह परीलोक की तरह से नहीं, एक सुव्यवस्थित तरीक़े से ही होगा।

श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ की कृतियों के महासागर के कुछ मोतियों का हार उन्हीं को अर्घ्य-रूप में इस अंक में चढ़ाया जा रहा है... शायद हम यह कह सकते हैं कि साधना के लिए एक लघु प्रवेशिका के रूप में यह अंक प्रस्तुत किया जा रहा है—लघु इस अर्थ में कि उस अगाध सागर में डुबकी लगा कर रत्नों के विशाल आगार में प्रवेश तो महान् गोताख़ोर ही कर सकते हैं।

हमें आशा है कि यह संकलन पाठकों को श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ की कृतियों के गभीर अध्ययन की ओर प्रेरित करेगा। या फिर पाठक इन असंख्य प्रकाश-किरणों में से एक पथ-प्रदर्शिका किरण को चुन कर, स्वयं उसमें पूरी तरह तब तक निमज्जित रह सकता है जब तक वह किरण उसमें मज्जागत न हो जाये। इस भाँति हम एक-एक किरण के साथ एकात्म होकर, समूचे सूरज को अपने अन्दर समा सकते हैं।

यह जानना कि हम क्यों जीते हैं

व्यक्तिगत जीवन का प्रयोजन है, भगवान् को खोजने और उनके साथ एक होने का आनन्द। जब तुम यह बात समझ लो तब तुम सभी कठिनाइयों को पार करने की शक्ति पाने के लिए तैयार होते हो।

२२ नवम्बर १९७१

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ४७३

यह जानना कि हम क्यों जीते हैं : भगवान् की खोज और उनके साथ सचेतन सायुज्य।

एकमात्र इसी उपलब्धि पर एकाग्र होने की अभीप्सा करना।

सभी परिस्थितियों को इस लक्ष्य तक पहुँचने के साधन में रूपान्तरित करना जानना।

२२ दिसम्बर १९७१

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ४७८

मूल रूप में जीवन जीने का सच्चा हेतु केवल एक ही है : वह है अपने-आपको जानना। हम पृथ्वी पर सीखने के लिए आये हैं—यह सीखने के लिए कि हम क्या हैं, यहाँ क्यों हैं, और हमें क्या करना है। और यदि हम यह भी नहीं जानते तो हमारा जीवन बिलकुल खोखला है—अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी।

३ फ़रवरी १९५४

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ६, पृ. १८

केवल ‘तू’—बस।

और यह बिलकुल स्पष्ट है कि सृष्टि का ‘वही’ लक्ष्य है, वह अद्भुत आनन्द... ‘तुझे’ अनुभव करने का आनन्द।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ११, पृ. २८६

जीवन का एक प्रयोजन है।

यह प्रयोजन है भगवान् को खोजना और उनकी सेवा करना।

भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अन्दर हैं, अन्दर गहराई में, भावनाओं और विचारों के ऊपर। भगवान् के साथ हैं शान्ति, निश्चिन्ता और साथ ही सभी कठिनाइयों का समाधान।

अपनी समस्या भगवान् को सौंप दो और 'वे' तुम्हें कठिनाइयों से उबार लेंगे।

३ जुलाई १९७०

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ६

भगवान् वह हैं जिनसे सब कुछ प्रकट होता है, जिनमें सब कुछ निवास करता है, और जीवन में अन्तरात्मा का यही उद्देश्य है कि अभी वह जिस अज्ञान से धुँधला गयी है उसमें से निकल कर **भगवान् के सत्य** पर वापस पहुँच जाये। अपने चरम 'सत्य' में भगवान् निरपेक्ष हैं, वे अनन्त शान्ति, चेतना, अस्तित्व, शक्ति तथा आनन्द हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५

हम भगवान् का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपनी प्रच्छन्न प्रकृति में पहले से वही हैं।... सम्भूतिमात्र का अभिप्राय है प्रकट होना। आत्म-उपलब्धि ही **रहस्य** है; आत्म-ज्ञान और बढ़ती हुई चेतना उसके **साधन तथा प्रक्रिया** हैं।

CWSA खण्ड २३, पृ. ५४

श्रीअरविन्द

हमारा जीवन उसके अन्तर में प्रतिष्ठित है अतः रूपान्तरित हो एक दिन अवश्य यह अपनी पूर्णता का प्रत्युत्तर पा जायेगा, ऊर्ध्व में होगा अनन्त मौन चिदानन्द, और धरातल पर होगा भागवत आलिंगन का चमत्कार।

'सावित्री', पृ. ३१५

श्रीअरविन्द

अस्तित्व क्या है

अस्तित्व (Existence) कोई आकस्मिक घटना, बिना रचयिता की निरुद्देश्य रचना या अपने-आप होने वाली कोई रहस्यमयी चीज़ नहीं है। यह अपने-आपमें भगवान् का 'शब्द' वहन करता है, यह प्रच्छन्न भागवत उपस्थिति से परिपूर्ण है।

अस्तित्व एक अन्धा यन्त्र नहीं है जो बस किसी प्रकार आ गया और किसी उद्देश्य या बुद्धि या प्रयोजन के बिना एक निश्चित अधम गति से चलने लगा। अस्तित्व वस्तुओं का सर्वोच्च सत्य है जो अभिव्यक्ति की एक क्रमिक प्रक्रिया द्वारा प्रकट हो रहा है, अपनी ही अन्तर्लीन सद्वस्तु का क्रमिक विकास है।

अस्तित्व एक भ्रान्ति, एक माया नहीं है जिसके होने का कोई कारण, कोई प्रयोजन न हो, जो हो नहीं सकता था, जो है नहीं किन्तु केवल भासित होता है। एक शक्तिशाली सद्वस्तु इस अद्भुत ब्रह्माण्ड में स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

जो कुछ है वह भागवत अनन्त की अभिव्यक्ति है। विश्व के अस्तित्व का इसके अलावा और कोई कारण नहीं है।

*

अभिव्यक्ति 'शाश्वत' की एक घटना-मात्र नहीं है। यह उसकी उस भव्यता का आनन और शरीर है जो अनश्वर है, यह उसके आनन्द और उसकी शक्ति की क्रिया और गति है...

CWSA खण्ड १२, पृ. २१८, २१९

जिन भगवान् की हम उपासना करते हैं वे केवल दूरस्थ, विश्व के परे की सद्वस्तु नहीं हैं, बल्कि एक अर्ध-आवृत अभिव्यक्ति हैं जो यहीं विश्व में हमारे पास और हमारे सामने विद्यमान है। जीवन भगवान् की एक ऐसी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुई है। यहीं, इसी जीवन में, इसी भूतल पर, इसी शरीर में—**इहैव**—जैसा कि उपनिषद् बार-बार कहते हैं, हमें देवाधिदेव को प्रकट करना है। उनकी परात्पर महिमा, ज्योति और

मधुरिमा को हमें यहीं अपनी चेतना के लिए जीवित-जाग्रत् बनाना है, यहीं उन्हें पाना और यथासम्भव अभिव्यक्त करना है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ७४

अपने सारतत्त्व में समस्त क्रमविकास है अभिव्यक्त सत्ता में चेतना की निरन्तर उठती हुई शक्ति, ताकि जड़-भौतिक से जीवन में, जीवन से मन में और मन से आत्मा के पथ में जो कुछ अभी तक अनभिव्यक्त है उस तक चेतना को निरन्तर उठाया जा सके।

CWSA खण्ड २२, पृ. ७५४-५५

समस्त क्रमविकास उस 'एकमेव' का उत्तरोत्तर आत्म-प्रकटन है जो निश्चेतना से निकल कर, अज्ञान से होता हुआ, आत्म-सचेतन पूर्णता की ओर स्वयं को धरती पर प्रकट करता रहता है।

CWSA खण्ड १२, पृ. २१९

क्रमविकास अपने सारतत्त्व में अधिकाधिक व्यवस्थित शरीर या अधिकाधिक सफल अथवा कुशल जीवन का विकास नहीं है—यह सब तो इसकी 'मशीनरी' और बाहरी घटना-मात्र है। क्रमविकास जड़-भौतिक में उर्नीदी पड़ी चेतना का उसमें से निकलने का प्रयास है, ताकि वह जग कर मुक्त हो जाये, अपनी स्वामिनी बन कर अधिकतम तथा विशालतम, अन्ततम तथा उच्चतम को तथा उसकी सभी सम्भावनाओं को प्राप्त कर उन्हें अपने अधिकार में कर ले। क्रमविकास का अर्थ है, 'अन्तरात्मा' के गूढ़ रहस्य को 'रूप' तथा 'शक्ति' में प्रकट करना; अर्थात्, धीमे-धीमे 'देवत्व' में रूपान्तरित हो जाना, 'आत्मा' में उत्तरोत्तर विकसित होना।

इस क्रमविकास में मानसिक प्राणी—मनुष्य—अन्तिम लक्ष्य तथा उद्देश्य, अधिकतम मूल्यवान् तथा उच्चतम अन्तिम प्राणी का प्रतीक नहीं है; वह 'प्रकृति' के इस समस्त उद्यम तथा परिश्रम का मुकुट बनने के लिए बहुत नगण्य तथा अपूर्ण है।

CWSA खण्ड १२, पृ. १६६

श्रीअरविन्द

हमारे ज्ञान से छिपा मौलिक सत्य

और वह उपाय जिससे हम सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते हैं

समस्त अस्तित्व चाहे उसका रंग-रूप, उसकी सत्ता की प्रक्रिया कैसी भी क्यों न हो, अपने द्रव्य, स्रोत, ऊर्जा और सत्य में एक ही आत्मा है। वही आत्मा सबका आदि, मध्य और अन्त है। वह स्वयं शाश्वत, अनन्त, स्वयम्भू है, आदि और अन्त के परे, देश और काल के परे, रूप, गुण और परिस्थितियों के परे होते हुए भी देश, काल, रूप, गुण और परिस्थिति में भी वह उपस्थित है। यह वह आधारभूत यथार्थता है जो हमारे ज्ञान से छिपी हुई है, वह एकमात्र सत्य है जिस पर अन्य सब सत्य आश्रित हैं, वे भी जो इसका समर्थन करते और वे भी जो इसका खण्डन करते हैं। तो पूर्ण जीवन का विधान होगा इस परम यथार्थता और अन्य सत्यों या अस्तित्व के आभासों के साथ उसके उचित सम्बन्धों के बारे में सचेतन होना, उसी में निवास करना, उसके सत्य के द्वारा हमारी सारी सत्ता, चेतना, प्रकृति, इच्छा और प्रक्रिया का शासित होना। अगर मानव-जीवन अपूर्ण है तो इसका कारण यह है कि उसकी चेतना टूँढ़ती हुई, टटोलती हुई, अपनी निजी सत्ता के सत्य के बारे में अपने आधारभूत अज्ञान में परीक्षण करती रहती है इसलिए वह अपने जीवन के सच्चे विधान को जानने और उसे लागू करने में असमर्थ रहती है। अगर मनुष्य इस अज्ञान और अक्षमता को जीत ले, तभी वह अपने जीवन और अपनी प्रकृति को पूर्ण बनाने की आशा कर सकता है।... यह आशा करना व्यर्थ है कि तर्कबुद्धि का उपयोग करके प्रकृति के नियमों का अध्ययन और उपयोग करके हम यहाँ पर अधिक पूर्ण जीवन पा लेंगे। क्योंकि यहाँ पर हमारी प्रकृति अपने-आप अज्ञानमय और अपूर्ण है, इसलिए वह ज़रा कम अपूर्णता और अज्ञान से बढ़ कर और कुछ नहीं पा सकती। लेकिन अगर वस्तुओं के पीछे स्थित यथार्थ वास्तविकता के सच्चे ज्ञान तक पहुँचने और उसके 'सत्य', 'ज्योति' और 'शक्ति' तक पहुँचने का कोई साधन है तो इसका कोई कारण नहीं कि हमारा ऐहिक जीवन दिव्य और पूर्ण क्यों न बने। योग द्वारा ही यह साधन पाया जा सकता है और इस तरह निस्तार सम्भव है।

CWSA खण्ड १२, पृ. १७७-७८

श्रीअरविन्द

साधना क्यों करनी है

तुम योग-साधना किसलिए करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करने के लिए? शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति के लिए? मानवजाति की सेवा के लिए?

इनमें से कोई भी उद्देश्य यह बताने के लिए काफ़ी नहीं है कि तुम इस योग-मार्ग के लिए हो।

तुम्हें जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है: क्या तुम भगवान् के लिए योग-साधना करना चाहते हो? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवन के परम सत्य हैं, यहाँ तक कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान् ही हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवन का कोई अर्थ नहीं है? यदि ऐसा हो तभी कहा जा सकता है कि तुम्हारे अन्दर योग-मार्ग के लिए पुकार है।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. १

“इस मुक्ति, पूर्णता, समग्रता की खोज भी हमारे अपने लिए नहीं, भगवान् के लिए होनी चाहिये।” लेकिन क्या हम अपने लिए साधना नहीं करते?

वे ठीक इसी चीज़ पर ज़ोर दे रहे हैं। यह सिर्फ़ इसी बात पर ज़ोर देने के लिए है। इसका मतलब है कि वह समस्त पूर्णता जिसे हम प्राप्त करने वाले हैं वह व्यक्तिगत या स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के लिए नहीं है, यह भगवान् को अभिव्यक्त करने-योग्य होने के लिए उनकी सेवा में निवेदित की जाती है। हम इस विकास की खोज व्यक्तिगत पूर्णता के स्वार्थपूर्ण इरादे से नहीं करते; हम यह खोज इसलिए करते हैं क्योंकि भगवान् का ‘कार्य’ पूरा करना है।

लेकिन हम यह भागवत ‘कार्य’ करते ही क्यों हैं? अपने-आपको...

नहीं, नहीं, हर्गिज़ नहीं! हम इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की ‘इच्छा’ है। यह व्यक्तिगत कारण से हर्गिज़ नहीं है, ऐसा नहीं होना चाहिये।

हम इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की 'इच्छा' है और यह भगवान् का 'कार्य' है।

जब तक कोई निजी अभीप्सा या कामना, एक स्वार्थपूर्ण इच्छा उसमें मिलती रहे, वह हमेशा एक मिश्रण पैदा करती है और यथार्थ रूप में भागवत 'इच्छा' की अभिव्यक्ति नहीं होती। महत्त्व बस एक ही चीज़ का होना चाहिये, वह है भगवान्, 'उनकी' इच्छा, 'उनकी' अभिव्यक्ति, 'उनकी' अभिव्यञ्जना। **हम यहाँ पर उसी के लिए हैं, हम वही हैं,** और कुछ भी नहीं। और जब तक स्व की, अहं की, व्यष्टि की भावना तुम्हारे अन्दर आती रहे तो, यह इस बात का प्रमाण है कि तुम अभी तक वह नहीं हो जो तुम्हें होना चाहिये, बस। मैं यह नहीं कहती कि यह रातोंरात हो सकता है, लेकिन वस्तुतः सत्य यही है।

ऐसा है क्योंकि इस क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी, बहुत अधिक लोग ऐसे होते हैं (मैं कह सकती हूँ कि बहुसंख्यक लोग हैं जो आध्यात्मिक जीवन को अपनाते और योग करते हैं), इनमें से बहुत अधिक लोग निजी कारणों से अपनाते हैं, सब तरह के व्यक्तिगत कारणों से अपनाते हैं : कुछ इसलिए कि वे जीवन से उकता गये हैं, कुछ इसलिए कि वे दुःखी हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो ज़्यादा जानना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे आध्यात्मिक दृष्टि से महान् बनना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे ऐसी चीज़ें सीखना चाहते हैं जिन्हें वे दूसरों को सिखा सकें; वस्तुतः योग-साधना करने के लिए हज़ारों व्यक्तिगत कारण होते हैं। लेकिन अपनी सारी पवित्रता और निरन्तरता में यह सरल-सा तथ्य कि तुम अपने-आपको भगवान् को दे दो ताकि भगवान् तुम्हें अपनी इच्छा के अनुसार गढ़ सकें, हाँ तो, इसके करने वाले बहुत नहीं हैं, पर फिर भी वास्तविक सत्य यही है; और इसके साथ तुम सीधे लक्ष्य की ओर जाते हो और कभी भूल करने का भय नहीं रहता। अन्य सभी हेतु हमेशा मिश्रित होते हैं, अहं से दूषित होते हैं; स्वाभाविक है कि वे तुम्हें लक्ष्य से बहुत दूर, इधर-उधर ले जाते हैं।

पर इस प्रकार की अनुभूति कि तुम्हारे जीवन का बस एकमात्र हेतु, एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र अभिप्राय है भगवान् के प्रति पूरा-पूरा, सम्पूर्ण, समग्र, इस हद तक समर्पण कि तुम अपने-आपको उनसे अलग न जान सको, पूरी तरह से, सम्पूर्ण भाव से, समग्र रूप से, सर्वभावेन, किसी व्यक्तिगत

प्रतिक्रिया के हस्तक्षेप के बिना, वही बन जाओ—यह आदर्श मनोभाव है; और इसके अतिरिक्त, यही एक चीज़ है जो तुम्हारे लिए जीवन और कार्य में आगे बढ़ना सम्भव बनाती है। तब तुम हर चीज़ से सुरक्षित होगे और अपने-आपसे सुरक्षित होगे—यह “अपने-आप” ही तुम्हारे लिए सबसे बड़ा संकट है—अपने-आपसे बढ़ कर और कोई संकट नहीं है (यहाँ “अपने-आप” से मेरा मतलब अहंकारमय स्व से है)।...

लेकिन भगवान् इस अव्यवस्था के बीच धरती पर अपने-आपको क्यों अभिव्यक्त करना चाहते हैं?

क्योंकि उन्होंने धरती को किसी और हेतु से नहीं, इसी उद्देश्य से बनाया है; धरती स्वयं भगवान् ही है, लेकिन है विकृत रूप में और वे उसे फिर से उसके सत्य में स्थापित करना चाहते हैं। धरती ‘उनसे’ पृथक् और परायी वस्तु नहीं है। यह भगवान् का ही एक विकार है जिसे फिर से वही बन जाना चाहिये जो वह सारतत्त्व में थी, यानी, भगवान्।

तो फिर वे हमारे लिए अजनबी क्यों हैं?

लेकिन, मेरे बच्चे, वे अजनबी नहीं हैं। तुम कल्पना करते हो कि वे अजनबी हैं, लेकिन वे अजनबी नहीं हैं, बिलकुल नहीं। वे तुम्हारी सत्ता के सारतत्त्व हैं—पराये बिलकुल नहीं हैं। तुम उन्हें भले न जानते हो, पर वे अजनबी नहीं हैं; वे तुम्हारी सत्ता का सारतत्त्व हैं। भगवान् के बिना तुम्हारा अस्तित्व ही न होगा। भगवान् के बिना तुम एक सेकेण्ड के दस लाखवें हिस्से के लिए भी न रह सकोगे। केवल, चूँकि तुम एक मिथ्या भ्रान्ति में और विकृति में रहते हो इसलिए तुम सचेतन नहीं हो। तुम अपने बारे में सचेतन नहीं हो, तुम किसी ऐसी चीज़ के बारे में सचेतन हो जिसे तुम अपना स्व समझते हो, लेकिन वह तुम नहीं हो।

तब मैं क्या हूँ, मधुर माँ?

भगवान्!

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ७, पृ. २१०-१३

योग में कौन है साधक और क्या है साधना

जगत् में जो कुछ होता है उस सबमें, सब कार्यों के पीछे भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा रहते हैं, किन्तु वे अपनी योगमाया से ढके रहते हैं और इस अपरा प्रकृति में जीव के अहंकार के द्वारा कार्य करते हैं।

योग में भी भगवान् ही साधक हैं और साधना भी; यह उन्हीं की शक्ति है जो अपने प्रकाश, बल, ज्ञान, चेतना और आनन्द से आधार पर क्रिया करती है और जब आधार इस शक्ति की ओर खुल जाता है तो उसमें अपनी इन दिव्य शक्तियों को भरती है, जिनसे साधना सम्भव होती है, परन्तु जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है तब तक साधक के व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता बनी रहती है।

जिस व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता है वह है अभीप्सा, त्याग और समर्पण की तिहरी साधना।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ६

स्वयं को 'भागवत प्रभाव' के प्रति खोलना ही इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। वह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है और एक बार तुम उसके प्रति सचेतन बन जाओ तो तुम्हें उसे अपने अन्दर उतारने के लिए बस उसका आह्वान करना होगा। वह मन तथा शरीर में 'शान्ति' के रूप में, 'प्रकाश' के रूप में, कार्य करने वाली 'शक्ति' के रूप में, साकार या निराकार भागवत 'उपस्थिति' के रूप में, 'आनन्द' के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा तथा उद्घाटन के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। श्रद्धा, पुकार, प्रार्थना सभी एक और समान वस्तुएँ हैं और सभी प्रभावकारी होती हैं; इनमें से जो तुम्हारे पास आये या जो तुम्हें सबसे सुगम लगे, तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा तरीका है एकाग्रता का; तुम अपनी चेतना को हृदय पर एकाग्र करो (कुछ सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगाओ या वहाँ प्रतिष्ठित होने के लिए उनका आवाहन करो। तुम दोनों में से कोई भी विधि अपना सकते हो या अलग-अलग समय पर कभी एक, कभी दूसरी का प्रयोग कर सकते हो—जो सहज रूप से तुम्हारे पास आये या जिसे करने के लिए तुम उस

समय प्रेरित होओ। विशेष रूप से, आरम्भ में, सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, मन को शान्त बनाने की, ध्यान के समय उन सभी विचारों और गतियों को अस्वीकार करने की जो साधना के लिए विजातीय हों। शान्त मन में अनुभूति को पाने के लिए प्रगतिशील तैयारी होती रहेगी। लेकिन अगर सब कुछ एकसाथ न हो तो तुम्हें कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये; मन में पूर्ण शान्ति लाने में समय लगता है; तुम्हें तब तक प्रयास करते रहना होगा जब तक कि चेतना तैयार नहीं हो जाती।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०६

अन्दर से उद्घाटन या ऊपर से अवतरण—ये दो योगसिद्धि के महिमामय मार्ग हैं। बाहरी सतही मन या भावावेगों का प्रयत्न, किसी प्रकार की तपस्या इन वस्तुओं में से किसी का निर्माण करती प्रतीत हो सकती है, किन्तु इन दो मौलिक मार्गों के परिणाम की तुलना में ये परिणाम साधारणतया अनिश्चित और आंशिक होते हैं। इसलिए इस योग में साधना के फलों की प्राप्ति के लिए हम सदैव अनिवार्य रूप से, “उद्घाटन” पर—अर्थात्, हमारे अन्तर्तम भाग, चैत्य की ओर आन्तर मन, प्राण और शरीर के अन्तर्मुख उद्घाटन पर तथा मन से ऊपर स्थित सभी चीजों की ओर ऊर्ध्वमुख उद्घाटन पर—आग्रहपूर्वक बल देते हैं।

CWSA खण्ड ३०, पृ. ३२४

(एक शिष्य को लिखे पत्र से उद्धृत):

इस क्षेत्र में कभी कोई सच्चा आत्म-समर्पण नहीं हुआ है, तुमने दिव्य माँ के हाथों में खुले तौर पर और सहज भाव से अपने-आपको कभी नहीं दिया। लेकिन यही है अतिमानसिक योग में सफलता पाने का एकमात्र पथ। योगी, संन्यासी, तपस्वी बनना यहाँ का उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है रूपान्तर, और तुमसे अनन्तगुना बड़ी शक्ति के द्वारा ही यह रूपान्तर सम्पन्न किया जा सकता है; यह केवल तभी किया जा सकता है जब तुम दिव्य माँ के हाथों में सचमुच एक बालक बन कर रहो।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १४३

श्रीअरविन्द

उद्घाटन कैसे किया जाये

खुले रहने का अर्थ ही है कि श्रीमाँ की ओर इस तरह मुड़े रहना कि उनकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर सके, कोई भी चीज़ उनके कार्य को अस्वीकार न करे अथवा बाधा न पहुँचाये। अगर मन अपने निजी विचारों में ही बन्द रहे और उसे अपने अन्दर ज्योति और सत्य न लाने दे, अगर प्राण अपनी वासनाओं से चिपका रहे और जिस सच्चे प्रारम्भ और जिन सत्य प्रवृत्तियों को श्रीमाँ की शक्ति ले आती है उन्हें न आने दे, अगर शरीर अपनी कामनाओं, आदतों और तामसिकता से जकड़ा हुआ हो, और ज्योति और शक्ति को न अपने अन्दर प्रवेश करने दे, और न ही कार्य करने दे तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति खुला हुआ नहीं है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५१

उद्घाटन एक ऐसी चीज़ है जो संकल्प और अभीप्सा की सच्चाई के द्वारा अपने-आप घटित होती है।

*

उद्घाटन का सर्वोत्तम पथ है समर्पण; परन्तु जब तक समर्पण का भाव नहीं है तब तक अभीप्सा और अचञ्चलता इसे एक हद तक कर सकते हैं। समर्पण का अर्थ है अपने अन्दर की प्रत्येक चीज़ को भगवान् के हाथों में अर्पित कर देना, जो कुछ तुम हो और तुम्हारे पास है सब कुछ उत्सर्ग कर देना, अपने ही विचारों, कामनाओं, अभ्यासों आदि पर आग्रह न करना, बल्कि दिव्य सत्य को ऐसा अवसर देना कि वह उनके स्थान पर अपने ज्ञान, संकल्प और कर्म को सर्वत्र स्थापित कर दे।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०५, १०६

सच पूछो तो श्रीमाँ पर विश्वास रखने पर आवश्यक उद्घाटन उस समय होगा जब तुम्हारी चेतना तैयार हो जायेगी।

सच पूछो तो एकमात्र ध्यान के द्वारा वह चीज़ नहीं आयेगी जो कि आवश्यक है। वह श्रीमाँ के प्रति श्रद्धा और उद्घाटन होने पर आयेगी।

*

श्रीमाँ की ओर अपने-आपको खोले रखो, उन्हें सर्वदा स्मरण करो और उनकी शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने दो, अन्य सभी प्रभावों का त्याग करो—यही योग का नियम है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०९

यह सच है कि तुम्हारी ओर से कोई प्रयास हुए बिना दिव्य शक्ति फलदायी रूप में कार्य कर सकती है। उसके कार्य के लिए प्रयास की नहीं, बल्कि सत्ता की अनुमति की आवश्यकता होती है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ७२१

श्रीमाँ की ओर खुले रहने का अर्थ है, हमेशा शान्त-स्थिर और प्रसन्न बने रहना तथा दृढ़ विश्वास बनाये रखना—न कि चञ्चल होना, दुःख करना या हताश होना; अपने अन्दर उनकी शक्ति को कार्य करने देना जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सके, तुम्हें ज्ञान, शान्ति और आनन्द दे सके। अगर तुम स्वयं को खुला न रख सको तो फिर उसके लिए निरन्तर, पर बहुत ही शान्ति से यह अभीप्सा करो कि तुम उनकी ओर खुल सको।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १५१

उद्घाटन और, जब कभी आवश्यक हो, निष्क्रियता होनी चाहिये, पर होनी चाहिये उच्चतम चेतना के प्रति, जो कुछ भी आये उसके प्रति नहीं।

अतः, निष्क्रियता की स्थिति में भी एक प्रकार की शान्त सजगता बनी रहनी चाहिये। अन्यथा या तो अनुचित क्रियाएँ होने लगेंगी या फिर तामसिकता आ घिरेगी।

CWSA खण्ड २९, पृ. ११९

कर्म भी योग का अंग है और यह प्राण तथा उसकी क्रियाओं के अन्दर भागवत उपस्थिति, ज्योति और शक्ति को उतार लाने का सबसे उत्तम सुयोग प्रदान करता है; यह आत्म-समर्पण के क्षेत्र और सुअवसर को भी बढ़ाता है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. २४७

श्रीअरविन्द

श्रद्धा की हमसे माँग

योग की मौलिक श्रद्धा, जो अन्तरात्मा में निहित होती है, यह है कि भगवान् हैं और भगवान् ही वह एकमात्र वस्तु हैं जिसकी खोज करनी चाहिये—जीवन में दूसरी कोई चीज़ ऐसी नहीं जो उसकी तुलना में प्राप्त करने-योग्य हो।... जब तक यह श्रद्धा किसी मनुष्य में है तब तक वह आध्यात्मिक जीवन के लिए निर्दिष्ट है और मैं कहूँगा कि यदि उसकी प्रकृति बाधा-विघ्नों से पूर्ण और अस्वीकृतियों तथा कठिनाइयों से ठसाठस भरी हुई हो फिर भी, और यहाँ तक कि यदि उसे अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़े फिर भी, आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाना उसके लिए सुनिश्चित है।

बस, इसी श्रद्धा को तुम्हें अपने अन्दर विकसित करने की आवश्यकता है—युक्ति-तर्क और साधारण समझ के साथ मेल खाने वाली यह श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि यदि भगवान् का अस्तित्व है और उन्होंने ही तुम्हें इस पथ पर बुलाया है, जैसा कि स्पष्ट है, तो निश्चय ही पीछे की ओर तथा आदि से अन्त तक हमेशा भागवत पथ-प्रदर्शन मौजूद रहेगा और सभी कठिनाइयों के बावजूद तुम अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँचोगे। असफलता का सुझाव देने वाली विरोधी शक्तियों की वाणियों को अथवा उनको प्रतिध्वनित करने वाली अधीरता की, प्राणिक जल्दबाज़ी की वाणियों को नहीं सुनना चाहिये। इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये कि चूँकि महान् कठिनाइयाँ मौजूद हैं इसलिए सफलता नहीं मिल सकती अथवा जब अभी तक भगवान् नहीं दिखायी दिये तब वे कभी दिखायी नहीं देंगे, बल्कि इस मनोभाव को ग्रहण करना चाहिये, जिसे किसी महान् और कठिन लक्ष्य पर अपना मन एकाग्र करने पर प्रत्येक व्यक्ति ही ग्रहण करता और कहता है कि “सभी कठिनाइयों के होते हुए भी मैं तब तक प्रयत्न करता रहूँगा जब तक कि सफल नहीं हो जाता।” और जिसमें भगवान् में विश्वास रखने वाला इतना और जोड़ देता है कि “भगवान् हैं और उन्हें पाने का मेरा प्रयास कभी विफल नहीं हो सकता। जब तक मैं उन्हें पा नहीं लेता तब तक मैं प्रत्येक चीज़ के अन्दर से होता हुआ आगे बढ़ता रहूँगा।”

CWSA खण्ड २९, पृ. ९३-९४

एक सामान्य सिद्धान्त तथा उसका सतत एवं विशिष्ट प्रयोग—इन दोनों रूपों में जिस श्रद्धा की माँग हमसे की जाती है उसका अर्थ है, ईश्वर और शक्ति के सान्निध्य एवं मार्गदर्शन के प्रति हमारी सारी सत्ता और उसके सभी अंगों की एक विशाल तथा सदा-वृद्धिशील तथा सतत शुद्धतर, पूर्णतर एवं प्रबलतर अनुमति। जब तक हम शक्ति की उपस्थिति से सचेतन और ओतप्रोत नहीं हो जाते तब तक उसमें श्रद्धा के पूर्व या कम-से-कम उसके साथ-साथ हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक संकल्प-शक्ति और ऊर्जा में तथा एकता, स्वतन्त्रता एवं पूर्णता की ओर सफलतापूर्वक बढ़ने की अपनी शक्ति में सुदृढ़ और सतेज श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। मनुष्य को अपनी सत्ता और अपने विचारों में तथा अपनी शक्तियों में श्रद्धा इसलिए दी गयी है कि वह महत्तर आदर्शों के लिए कार्य करके उनका सृजन करे तथा उनकी ओर ऊपर उठे और अन्त में अपनी शक्ति परम आत्मा की वेदी पर एक योग्य आहुति के रूप में प्रस्तुत करे। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा दुर्बल के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। पंगु बनाने वाले समस्त अविश्वास को, कार्यसिद्धि के बारे में अपनी शक्ति के समस्त सन्देह को निरुत्साहित करना होगा, क्योंकि उसका अर्थ है, अक्षमता को ग़लत स्वीकृति देना, अपने अन्दर दुर्बलता की कल्पना करना और आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता से इनकार करना। वर्तमान अक्षमता हम पर कितना ही भारी दबाव क्यों न डालती प्रतीत हो, फिर भी वह श्रद्धा की एक परीक्षा तथा एक अस्थायी कठिनाई मात्र है, और असमर्थता की भावना के आगे घुटने टेकना पूर्णयोग के साधक के लिए मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि उसका लक्ष्य एक ऐसी पूर्णता को विकसित करना है जो पहले से ही विद्यमान है, सत्ता के अन्दर प्रसुप्त रूप में उपस्थित है, क्योंकि मनुष्य दिव्य जीवन का बीज अपने अन्दर, अपनी आत्मा में लिये हुए है, सफलता की सम्भावना भी उसके पुरुषार्थ में बसी हुई है और विजय सुनिश्चित है, क्योंकि उसके प्रयत्न के पीछे एक सर्वसमर्थ शक्ति की पुकार एवं मार्गदर्शन विद्यमान है। पर इसके साथ ही इस आत्मश्रद्धा को राजसिक अहंकार और आध्यात्मिक गर्व के समस्त स्पर्श से मुक्त एवं शुद्ध करना होगा। साधक को अपने मन में अधिकाधिक यह विचार रखना होगा कि उसका सामर्थ्य अहंकारमय अर्थ में उसका अपना नहीं है, बल्कि वह विराट् भागवत शक्ति का है और

उसके द्वारा इसके प्रयोग में जो भी अहंकारमय भाव होता है वह अवश्य ही संकीर्णता का कारण होता है और अन्त में बाधक ही बनता है। विराट् भागवत शक्ति का जो सामर्थ्य हमारी अभीप्सा के पीछे विद्यमान है उसकी कोई सीमा नहीं, और जब उसका ठीक प्रकार से आवाहन किया जाता है तो वह अभी या बाद में हमारे अन्दर अपने-आपको प्रवाहित करने तथा हर प्रकार की अक्षमता और बाधा को दूर करने से चूक नहीं सकता; क्योंकि हमारे संघर्ष के काल और अन्तराल यद्यपि पहले-पहल, एक साधन के रूप में तथा अंशतः, हमारी श्रद्धा और पुरुषार्थ की शक्ति पर निर्भर करते हैं तथापि अन्ततः वे उस निगूढ़ परम आत्मा के हाथों में ही हैं जो सब वस्तुओं का ज्ञानपूर्वक निर्धारण करती है और जो अकेली ही हमारे योग की स्वामिनी, ईश्वर, है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७७९-८०

वह एकमेव सत् है; वह मूल और विश्वव्यापी आनन्द है जिससे यह सब जगत् बना है और जो इससे परे भी है : वह एकमेव अनन्त चेतना है जो सभी चेतनाओं को गठित करती और उनकी सब गतियों को अनुप्राणित करती है : वह एकमेव असीम सत् है जो समस्त कर्म और अनुभव को धारण करता है : उसका संकल्प वस्तुओं के विकास को उनके अब तक असिद्ध पर अनिवार्य लक्ष्य तथा पूर्णता की ओर ले चलता है।

उस पर हृदय अपने-आपको उत्सर्ग कर सकता है, परम प्रियतम के रूप में उसके पास पहुँच सकता है और प्रेम के सार्वभौम माधुर्य एवं आनन्द के सजीव सिन्धु के रूप में उसके अन्दर स्पन्दन और विचरण कर सकता है। क्योंकि उसका हर्ष वह गुप्त हर्ष है जो आत्मा को उसके सभी अनुभवों में आश्रय देता है और भ्रान्तिशील अहं को भी उसकी अग्नि-परीक्षाओं और संघर्षों में तब तक धारण करता है जब तक समस्त दुःख और क्लेश मिट नहीं जाते। उसका प्रेम और आनन्द उस अनन्त दिव्य प्रेमी का प्रेम और आनन्द है जो सभी वस्तुओं को उनके पथ से अपनी सुखमय एकता की ओर खींच रहा है।

उसी पर संकल्प अपने को इस रूप में दृढ़तया एकाग्र कर सकता है कि वह एक अदृश्य शक्ति है जो इसे सञ्चालित और क्रियान्वित करती है

तथा इसके बल का स्रोत है। निर्वैयक्तिकता में यह प्रेरक बल एक स्वयं-प्रकाशमान् शक्ति है जो सब परिणामों को धारण करती है और स्थिरतापूर्वक तब तक कार्य करती रहती है जब तक कि वह उन्हें सिद्ध नहीं कर लेती। वैयक्तिकता में यह योग का सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर है जिसे अपने संकल्प के उद्देश्य की सिद्धि में कोई चीज़ बाधा नहीं पहुँचा सकती। इसी श्रद्धा से जिज्ञासु को अपनी खोज और प्रयत्न शुरू करना होता है। इस भूतल पर अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ में और, सबसे बढ़ कर, अगोचर को प्राप्त करने के अपने पुरुषार्थ में मनोमय मनुष्य विवश होकर श्रद्धा द्वारा ही आगे बढ़ता है। जब उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होगा, तब श्रद्धा दिव्य रूप से कृतार्थ और पूर्ण होकर ज्ञान की नित्य ज्योतिशिखा में परिणत हो जायेगी।
CWSA खण्ड २३, पृ. ८३

(श्रीमाँ के नाटक 'महान् रहस्य' से उद्धृत)

... नहीं, बहुत देर नहीं हुई, देर कभी नहीं हुआ करती।

हम सब अपनी संकल्प-शक्ति को एकत्र करके, एक महान् अभीप्सा के साथ भागवत 'कृपा' से प्रार्थना करें।

चमत्कार किसी भी समय हो सकता है।

श्रद्धा में बहुत शक्ति होती है। और अगर सचमुच भविष्य में होने वाले महान् कार्य में हमारे लिए कोई स्थान है तो भागवत सहायता आयेगी और हमारे जीवन की रक्षा करेगी।

आओ, हम एक सन्त की नम्रता, एक शिशु की सरलता के साथ प्रार्थना करें; पूरी सच्चाई से उस नयी 'चेतना', उस नयी 'शक्ति', उस 'सत्य' और उस 'सौन्दर्य' का आवाहन करें जिसका अवतरण इस धरती पर रूपान्तर करने के लिए, और यहाँ, इस पार्थिव जगत् में अतिमानसिक जीवन सिद्ध करने के लिए ज़रूरी है।

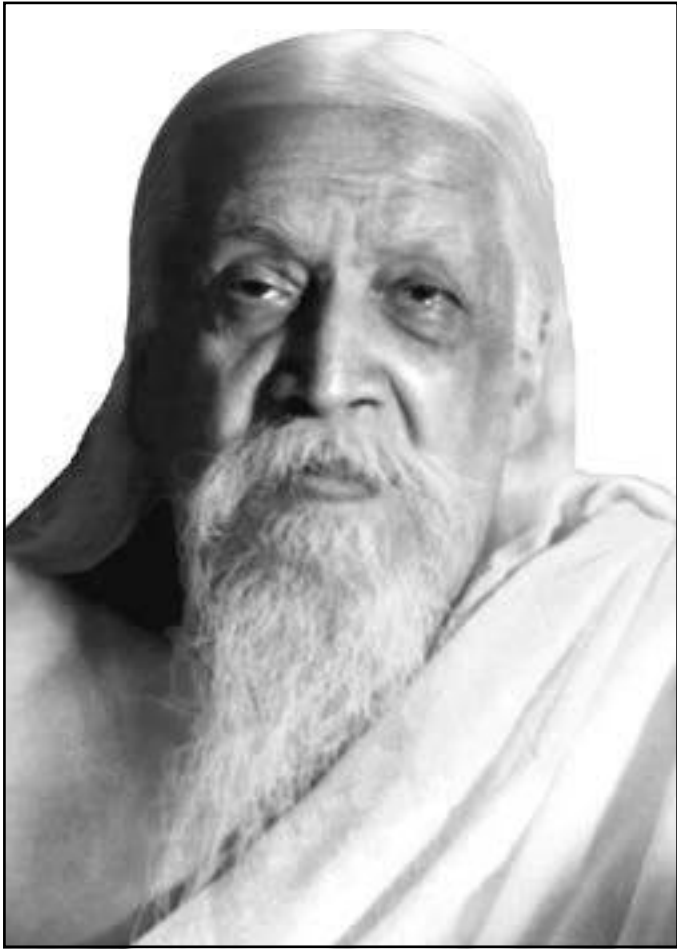
श्रीमातृवाणी खण्ड १२, पृ. ५३४



मैं निज अन्तरप्राण में सत्य-अर्थ के प्रति जाग गयी हूँ
कि प्रत्येक के प्रति प्रेम और एकत्व की अनुभूति पाना ही जीवन है
और हमारे इस दिव्य रूपान्तर की यही जादुई कुञ्जी है,
मैं इसी सम्पूर्ण सत्य को जानती या खोजती हूँ...

‘सावित्री’, पृ. ७२४

श्रीअरविन्द



जब हम व्यक्तीकरण का अतिक्रमण कर जायेंगे, तब हम सच्चे व्यक्ति बनेंगे। अहं सहायक था; अहं ही बाधा है।...

विभेदक व्यक्ति को वैश्व व्यक्तित्व में रूपान्तरित कर दो; स्वयं को भगवान् बन जाने दो। यही है तेरा लक्ष्य।

CWSA खण्ड १३, पृ. १९९

श्रीअरविन्द

अपने अन्दर की भागवत उपस्थिति की खोज

लोग बाहरी चीज़ों में व्यस्त रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि चेतना गहरे सत्य और भागवत 'उपस्थिति' को पाने के लिए अन्दर की ओर मुड़ने की जगह बाहरी चीज़ों की ओर, यानी, जीवन की उन सब चीज़ों की ओर मुड़ी रहती है जिन्हें तुम देखते, जानते और करते हो। यह पहली गति है। तुम जो कुछ करते हो, तुम्हारे चारों ओर जो लोग हैं, तुम जिन चीज़ों का उपयोग करते हो, उन सबमें व्यस्त रहते हो; और फिर जीवन में: खाने-पीने में, सोने, बातचीत करने, थोड़ा काम करने, थोड़े-से मनोरञ्जन में भी व्यस्त रहते हो; और फिर शुरू से वही चक्र चल पड़ता है: सोना, खाना, आदि, आदि, और फिर से वह शुरू हो जाता है। और फिर इसने क्या कहा, उसने क्या किया, तुम्हें क्या करना चाहिये, तुम्हें कौन-सा पाठ सीखना चाहिये, तुम्हें कौन-सी तैयारी करनी चाहिये; और फिर यह भी कि तुम्हारी तबीयत कैसी है, तुम ठीक-ठाक तो हो, इत्यादि। साधारणतः आदमी इन्हीं के बारे में सोचता है।

तो पहली गति है—और यह इतनी आसान नहीं है—इन सबको पीछे, पृष्ठभूमि में कर देना और केवल एक ही चीज़ को **एकमात्र** आवश्यक चीज़ के रूप में अन्दर और चेतना के सामने लाना: वह चीज़ है, अपने अस्तित्व और जीवन के सच्चे उद्देश्य को खोजना, यह सीखना कि हम क्या हैं, हम क्यों जीवित हैं, और इस सबके पीछे क्या है। यह पहला चरण है: अभिव्यक्ति की अपेक्षा कारण और लक्ष्य में अधिक रत रहना। यानी, पहली गति है बाहरी और प्रत्यक्ष वस्तुओं के साथ पूर्ण तादात्म्य से अपनी चेतना को खींच लेना, और तुम जो खोजना चाहते हो, जिस 'सत्य' का अन्वेषण करना चाहते हो उस पर एक प्रकार की एकाग्रता रखना। यह पहली गति है।...

तुम कूद कर इस अवस्था को लाँघ नहीं सकते। पहले तुम्हें अपनी अन्तरात्मा को पाना होगा, यह एकदम अनिवार्य है, और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा। उसके बाद तुम रूपान्तर की ओर जा सकते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३८६-८७

जिसने इस काम को (अपने अन्दर भगवान् की खोज करने का काम) हाथ में लेने का निश्चय कर लिया है उसके लिए कुछ सरल निर्देश उपयोगी हो सकते हैं।

पहली और शायद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन आध्यात्मिक वस्तुओं के विषय में राय बनाने में असमर्थ है। जिन लोगों ने भी इस विषय पर लिखा है वे सब यही कहते हैं; पर बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इस पर आचरण करते हैं। फिर भी, इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए सब प्रकार की मानसिक धारणाओं और प्रतिक्रियाओं से बचना सर्वथा अनिवार्य है।

आराम, सन्तुष्टि, सुख-भोग या प्रसन्नता के लिए हर प्रकार की वैयक्तिक कामना का त्याग कर दो। बस, उन्नति के लिए प्रज्वलित अग्निशिखा बन जाओ। जो कुछ तुम्हारे मार्ग में आये उसे अपने विकास के लिए मानो और तुरन्त इस अपेक्षित विकास को साधित भी कर लो।

जो भी करो उसे आनन्द से करने का यत्न करो, परन्तु आनन्द कभी तुम्हारे कार्य का प्रेरक भाव न बनने पाये।

कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध मत होओ, सभी परिस्थितियों में पूर्ण रूप से शान्त बने रहो। फिर भी सदा सजग रहो ताकि जो उन्नति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको तथा समय नष्ट किये बिना उसे प्राप्त कर सको।

भौतिक घटनाओं को उनके बाह्य रूपों के आधार पर स्वीकार मत करो। ये सदा ही किसी अन्य वस्तु को, जो सत्य वस्तु है, परन्तु जो हमारी तलीय बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, अभिव्यक्त करने का बेढंगा प्रयास होती हैं।

किसी के व्यवहार के प्रति शिकायत मत करो, जब तक तुम्हारे अन्दर उसके स्वभाव की उस चीज़ को बदलने की शक्ति ही न हो जो उसे वैसा करने को प्रेरित करती है; अगर तुम्हारे पास वह शक्ति है तो शिकायत करने के स्थान पर उसे बदल दो।

तुम जो भी करो, अपने लिए निर्धारित किये हुए लक्ष्य को सदा स्मरण रखो। इस महान् उपलब्धि की खोज में कोई भी चीज़ बड़ी या छोटी नहीं है; सब समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, ये इसकी सफलता में सहायता भी पहुँचा सकती हैं और बाधा भी डाल सकती हैं। जैसे भोजन से पहले तुम इस अभीप्सा पर कुछ क्षण अपना ध्यान एकाग्र करो कि जो खाना तुम खाने वाले हो वह तुम्हारे शरीर के लिए उस प्रयोजनीय तत्त्व को पैदा करे

जो इस महान् उपलब्धि के लिए तुम्हारे प्रयत्न का ठोस आधार बनेगा तथा उसे इस प्रयत्न में सहनशीलता और अध्यवसाय की शक्ति प्रदान करेगा।

सोने से पहले, तुम कुछ क्षणों के लिए एकाग्र होकर अभीप्सा करो कि यह निद्रा तुम्हारी थकी हुई नसों को पुनः शक्ति प्रदान करे, तुम्हारे मस्तिष्क में स्थिरता और शान्ति लाये, ताकि सोकर उठने के बाद तुम नये उत्साह के साथ इस महान् उपलब्धि की ओर अपनी यात्रा को फिर से आरम्भ कर सको।

कुछ भी करने से पहले, इस इच्छा-शक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करो कि तुम्हारा कार्य इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में तुम्हें सहायता पहुँचाये, कम-से-कम किसी भी तरह बाधक तो न बने।

जब तुम बोलो, तो मुख से शब्द निकालने से पहले कम-से-कम इतनी देर तो अपने-आपको एकाग्र कर लो कि शब्दों पर तुम्हारा नियन्त्रण रहे और केवल वे ही शब्द मुख से निकलें जो अनिवार्य रूप में आवश्यक हैं, केवल वे ही जो इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं हैं।

संक्षेप में, अपने जीवन के प्रयोजन और लक्ष्य को कभी मत भूलो। इस महान् उपलब्धि के लिए तुम्हारा संकल्प सदा तुम्हारे ऊपर तथा जो कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम हो उस पर सदा विद्यमान रहे मानो यह प्रकाश का एक विशाल पक्षी है जो तुम्हारे अस्तित्व की सभी गतिविधियों पर छाया रहता है।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. ३९-४०

पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है। नित्य ज्ञान और नित्य पूर्णता का कमल एक अविकसित और मुकुलित कली के रूप में हमारे अन्दर ही विद्यमान है। एक बार जब मनुष्य का मन सनातन की ओर मुड़ने लगता है, एक बार जब उसका हृदय सान्त रूपों के मोह की संकीर्णता से ऊपर उठ कर, चाहे किसी भी मात्रा में हो, अनन्त में अनुरक्त हो जाता है, तब वह कली शीघ्र या शनैः-शनैः, एक-एक पंखुड़ी करके, एक-एक उपलब्धि के द्वारा खुलने लगती है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ५३

श्रीअरविन्द

समर्पण से शुरू होती है योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय ही समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है; अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाक़ी सभी चीज़ें स्वभावतः उसके बाद आती हैं, सारी प्रक्रिया समर्पण से आरम्भ होती है। तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. १४१-४२

योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। परन्तु पश्चिमवालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ों से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आँच लायें। व्यक्तित्व की भावना उनकी घुट्टी में मिली होती है। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बन्दर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दोनों में से किसी एक के मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बन्दर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिए अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिए उसे न कोई भय होता है न उसका कोई उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माता को पकड़ने दे और “माँ-माँ” करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई ख़तरा नहीं रहता। प्रश्न केवल

सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. ६-७

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्र का, तुम्हारी जीवन-विधि का समर्पण, ताकि वह बदल सके। यदि तुम अपनी एकदम निजी प्रकृति का समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी। बस, यही चीज़ है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तुम किन्हीं विशेष तरीकों से समझते हो, विशेष ढंगों से प्रतिक्रिया करते हो, विशेष रूपों में अनुभव करते हो, लगभग विशेष रीतियों से प्रगति करते हो, और सबसे बढ़ कर, एक विशेष दृष्टि से जीवन की ओर दृष्टिपात करते और उससे विशेष वस्तुओं की आशा करते हो—हाँ, बस इसे ही तुम्हें समर्पित करना होगा। कहने का मतलब, यदि तुम वास्तव में दिव्य ‘ज्योति’ को पाना और रूपान्तरित होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सत्ता और जीवन के पूरे तौर-तरीके को अर्पित कर देना होगा—उसे उद्घाटित करके, यथासाध्य अधिक-से-अधिक ग्रहणशील बना कर अर्पित करना होगा ताकि दिव्य ‘चेतना’, जो यह देखती है कि तुम्हें कैसा होना चाहिये, सीधे रूप में कार्य कर सके और इन समस्त क्रियाओं को अधिक सच्ची क्रियाओं में, तुम्हारे यथार्थ सत्य के साथ अधिक संगत क्रियाओं में परिवर्तित कर सके। यह बात अपने कर्मों को समर्पित करने की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक आवश्यक है। सच पूछा जाये तो मनुष्य जो कुछ करता है (वह जो कुछ करता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है) वह नहीं, बल्कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या है। कार्य-कलाप चाहे जो हो, वास्तव में कार्य जिस तरह किया जाता है वह नहीं, बल्कि चेतना की जिस स्थिति में वह किया जाता है वह महत्त्वपूर्ण है।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ४, पृ. ४४५-४६

साधना का रहस्य

साधना में रामबाण है—**एकमात्र रामबाण...** और वह है, पूर्ण निर्भरता का मनोभाव अपनाना—यही है सबसे अधिक पूर्ण साधना का रहस्य।...

“निर्भर” का अर्थ है, चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ या कठिनाइयाँ क्यों न आयेँ, भगवान् पर आश्रित रहना, जीवन में जब सब कुछ ठीक-ठाक चलता है तब इसका बहुत महत्त्व नहीं होता। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे व्यक्ति अपना सकता और अपने अन्दर विकसित कर सकता है।

‘नीरदवरण के पत्रों से’

श्रीअरविन्द

अगर व्यक्ति के अन्दर भागवत कृपा पर श्रद्धा है कि भागवत कृपा उस पर नज़र रखे हुए है और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, भागवत कृपा तो है ही, उसकी निगरानी कर रही है तो वह इस श्रद्धा को हमेशा और सारे जीवन रख सकता है, और यह हो तो वह ख़तरों में से गुज़र सकता है, सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर सकता है और कोई उसका बाल भी बाँका न कर सकेगा, क्योंकि उसके अन्दर श्रद्धा है और भागवत कृपा उसके साथ है। यह अनन्तगुनी शक्तिशाली, अधिक सचेतन, और अधिक स्थायी शक्ति है जो तुम्हारे शारीरिक गठन की अवस्था पर निर्भर नहीं करती, जो भागवत कृपा के सिवा किसी अन्य पर निर्भर नहीं करती, और इसलिए सत्य का सहारा लिये रहती है और कोई भी चीज़ उसे हिला नहीं सकती।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ५, पृ. ३२७

सबसे आवश्यक शर्त है बच्चे-जैसा विश्वास रखना, बच्चे का-सा निश्चल विश्वास कि चीज़ होकर रहेगी, बच्चा अपने-आपसे इसके बारे में पूछता तक नहीं; जब उसे किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह अवश्य आयेगी। तो यह है, इस प्रकार का विश्वास—निश्चय ही यह सबसे ज़रूरी शर्त है।...

हाँ तो, जब तुम दिव्य ‘शक्ति’ के लिए अभीप्सा करो, जब तुम भगवान् से सहायता माँगो और इस अटल विश्वास के साथ माँगो कि वह आयेगी,

कि यह असम्भव है कि वह न आये, तो वह निश्चय ही आयेगी। वह इस प्रकार... हाँ, यह विश्वास सचमुच आन्तरिक उद्घाटन है। कुछ लोग हमेशा इस स्थिति में रहते हैं। जब कोई चीज़ ग्रहण करनी होती है, तो वे हमेशा ग्रहण करने के लिए मौजूद रहते हैं।...

अगर सहज, निष्कपट, बिना ननुनच करने वाला विश्वास है, तो वह सबसे अच्छा कार्य करता है, और परिणाम अद्भुत आते हैं। तुम अपने मन की दुविधाओं और सन्देहों के कारण सब कुछ बिगाड़ देते हो। कठिनाई के समय इस प्रकार की धारणाओं से: “ओह, यह तो असम्भव है! मैं यह कभी न कर पाऊँगा। मैं जिस अवस्था में हूँ उसे बिलकुल नहीं पसन्द करता, लेकिन अगर यह बिगड़ जाये, अगर मैं ज़्यादा-ज़्यादा नीचे खिसकता जाऊँ, अगर, अगर, अगर, अगर...” और इस प्रकार तुम अपने और जिस शक्ति को ग्रहण करना चाहते हो उसके बीच दीवार खड़ी कर लेते हो।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ६, पृ. ४५४-५६

जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें अपने मन के महलों और प्राण की मचानों के ढहाये जाने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व को और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसी का चिन्तन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसी में तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वही है; वह है स्वयं “भगवान्”।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. ९५

जिस समय हर चीज़ बुरी से अधिक बुरी अवस्था की ओर जाती हुई प्रतीत होती है, ठीक उसी समय हमें अपनी महती श्रद्धा का परिचय देना चाहिये और यह जानना चाहिये कि ‘भगवत्कृपा’ कभी हमारा साथ नहीं छोड़ेगी।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १५, पृ. १८६

बुनियादी आवश्यकता—आत्मोत्सर्ग

परन्तु जिस वस्तु को हम अभी तक जानते ही नहीं हैं उस पर अपने-आपको एकाग्र कैसे करें? और फिर भी जब तक हम भगवान् पर अपनी सत्ता की एकाग्रता को सिद्ध नहीं कर लेते तब तक हम उनका ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकते। योग में ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के प्रयत्न से हमारा मतलब यह है कि हम 'एकमेव' पर अपने को इस प्रकार एकाग्र करें कि हमें अपने अन्दर तथा उस सबके अन्दर, जिससे हम अभिज्ञ हैं, उसकी उपस्थिति का जीवन्त साक्षात्कार और सतत अनुभव प्राप्त हो। इतना ही बस नहीं कि हम शास्त्रों के स्वाध्याय से या दार्शनिक तर्क-वितर्क के बल पर भगवान् को बुद्धि द्वारा समझने में अपने को उत्सर्ग कर दें। क्योंकि, अपने लम्बे मानसिक श्रम के अन्त में हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो 'सनातन' देव के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ आत्मसात् कर लें जो अनन्त के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है, फिर भी सम्भव है कि हम उसे बिलकुल न जान पायें। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है; यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमें से गुज़रना सबके लिए आवश्यक हो या जिसमें से गुज़रने को सबसे कहा जा सके। ध्यान-चिन्तन करने वाली बुद्धि ज्ञान की जिस बौद्धिक प्रतिभा को प्राप्त करती है वह यदि योग की आवश्यक शर्त या अनिवार्य प्रारम्भिक प्राप्ति हो तो योग इने-गिने लोगों के सिवा शेष सबके लिए असाध्य हो जाये।

ऊपर से आने वाला प्रकाश अपना काम शुरू कर सकने के लिए हमसे जिस चीज़ की माँग करता है वह केवल आत्मा की पुकार है और है मन के अन्दर पर्याप्त मात्रा में समर्थन। वह समर्थन मन में बार-बार भगवान् का विचार करके, क्रियाशील अंगों में उसके अनुरूप संकल्प करके और अभीप्सा, श्रद्धा तथा हार्दिक कामना के द्वारा किया जा सकता है। यदि ये सब एकस्वर होकर या एकताल होकर न चल सकते हों तो इनमें से किसी को अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारम्भ में असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है। श्रद्धा अल्प प्रकाशित हो सकती है, यहाँ तक कि, ज्ञान की चट्टान पर

सुप्रतिष्ठित न होने के कारण चलायमान तथा अनिश्चित भी हो सकती है। वह आसानी से मन्द भी पड़ सकती है। यह भी सम्भव है कि वह बार-बार बुझ जाये और आँधीदार घाटी में मशाल की भाँति उसे कठिनाई से फिर-फिर प्रज्वलित करना पड़े। लेकिन, यदि साधक एक बार अन्तर की गहराई से दृढ़ आत्म-निवेदन कर दे और आत्मा की पुकार के प्रति जाग जाये तो ये अपूर्ण चीज़ें भी दिव्य प्रयोजन के लिए पर्याप्त साधन हो सकती हैं। इसलिए ज्ञानी लोग ईश्वर की ओर मनुष्य की पहुँच के मार्गों को सीमित कर देने में सदा ही संकोचशील रहे हैं। वे उसके प्रवेश के लिए तंग-से-तंग द्वार, सबसे नीची और सबसे अँधेरी खिड़की तथा तुच्छ-से-तुच्छ प्रवेश-पथ भी बन्द नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ आत्म-निवेदन का भाव हो; क्योंकि जिज्ञासु के हृदय में भगवान् अपने को विराजमान देखते हैं और यज्ञ को स्वीकार कर लेते हैं।

CWSA खण्ड २३, पृ. ८१-८२

... तुम जितना अधिक स्वयं को भगवान् को देते हो उतने अधिक पूर्ण रूप से, निरन्तर, प्रत्येक क्षण, वे तुम्हारे सभी विचारों में, तुम्हारी सभी आवश्यकताओं में तुम्हारे साथ रहते हैं, और ऐसी कोई अभीप्सा नहीं है जिसका उत्तर तुरन्त न मिलता हो; और तुम्हारे अन्दर पूर्ण, सतत घनिष्ठता, पूर्ण निकटता का भाव रहता है। यह ऐसा है मानों तुम उन्हें साथ लिये चलते हो... मानों भगवान् हर समय तुम्हारे साथ हों; तुम चलते हो और वे तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं, तुम सोते हो और वे तुम्हारे साथ-साथ सोते हैं, तुम खाते हो और वे तुम्हारे साथ-साथ खाते हैं, तुम सोचते हो और वे तुम्हारे साथ-साथ सोचते हैं, तुम प्रेम करते हो और वे वही प्रेम हैं जो तुम्हारे पास है। लेकिन इसके लिए तुम्हें स्वयं को पूरा-पूरा, समग्र-भाव से, अनन्य भाव से देना चाहिये, कुछ भी बचा कर न रखो, अपने लिए कुछ भी न रखो और अपने पास कुछ भी न रखो, और न कोई चीज़ बिखेरो ही: तुम्हारी सत्ता में छोटी-से-छोटी चीज़ भी जो भगवान् को नहीं दी गयी है अपव्यय है; यह तुम्हारे आनन्द का अपव्यय है, यह ऐसी चीज़ है, जो तुम्हारे सुख को उतनी मात्रा में कम कर देती है, और जो कुछ तुम

भगवान् को नहीं देते उसे मानों तुम भगवान् अपने-आपको तुम्हें दे सकें इस सम्भावना के मार्ग में खड़ा कर देते हो। तुम उन्हें अपने नज़दीक, हमेशा अपने साथ अनुभव नहीं करते क्योंकि तुम उनके नहीं हो, क्योंकि तुम सैकड़ों अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के हो; तुम्हारे विचार में, तुम्हारी क्रिया में, तुम्हारी भावनाओं में, तुम्हारे आवेशों में... लाखों ऐसी चीज़ें हैं जो तुम उन्हें नहीं देते, और इसीलिए तुम उन्हें हमेशा अपने निकट अनुभव नहीं करते, क्योंकि ये सब चीज़ें तुम्हारे और उनके बीच इतने सारे परदे और दीवारें हैं। लेकिन अगर तुम उन्हें सब कुछ दे दो, अगर तुम कुछ भी बचा कर न रखो, तो वे हमेशा पूरी तरह, तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ भी सोचते हो, जो कुछ भी अनुभव करते हो, उसमें हमेशा, हर क्षण, तुम्हारे साथ होंगे। लेकिन इसके लिए तुम्हें अपने-आपको पूरी तरह देना होगा, कुछ भी बचा कर न रखना होगा; हर छोटी-सी चीज़ जिसे तुम बचा कर रखते हो, एक ऐसा पत्थर है जिसे तुम अपने और भगवान् के बीच दीवार खड़ी करने के लिए रखते हो। और फिर बाद में तुम शिकायत करते हो : “ओह, मैं उनका (भगवान् का) अनुभव नहीं करता!” आश्चर्य की बात तो तब होती अगर तुम उन्हें अनुभव कर पाते।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ७, पृ. २७१-७२

जीवन के गूढ़ रहस्य की कुञ्जी

यज्ञ के विधान का अभिप्राय वह सार्वजनीन दिव्य कर्म है जो इस सृष्टि के आदि में परस्पर-निर्भरता के प्रतीक के रूप में प्रकट हुआ था। इसी विधान के आकर्षण से एक दिव्यभावापन्न सिद्धान्त, एक रक्षक शक्ति इस अहम्मयी और विभक्त सृष्टि की भूलों को सीमित और संशोधित करने तथा उन्हें शनैः-शनैः दूर करने के लिए अवतरित होती है। यह अवतरण, अथवा पुरुष या भागवत आत्मा का यह यज्ञ,—जिसके द्वारा वह अपने-आपको शक्ति और जड़-प्रकृति के अधीन कर देता है, ताकि वह इन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके—निश्चेतना और अविद्या के इस संसार की रक्षा का बीज है।...

यज्ञ का वास्तविक सार आत्म-बलिदान नहीं, आत्म-समर्पण है; इसका

उद्देश्य आत्म-उन्मूलन नहीं, आत्म-परिपूर्णता है। इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर जीवन है, आत्म-पंगूकरण नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक मानवीय अंगों का दिव्य अंगों में रूपान्तरण है, आत्म-यन्त्रणा नहीं, बल्कि क्षुद्रतर सुख से महत्तर आनन्द की ओर प्रयाण है।...

पूर्ण रूप से स्वीकार्य यज्ञ तो केवल चरम और परम ऐकान्तिक आत्म-दान ही होता है—अर्थात्, एक ऐसा समर्पण जो एकमेव देव के प्रति उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति में, भक्ति और ज्ञान के साथ, स्वेच्छापूर्वक और निःसंकोच किया जाता है, उस एकमेव देव के प्रति जो एक साथ ही हमारी अन्तर्यामी आत्मा एवं चतुर्दिग्ब्यापी उपादानभूत विश्वात्मा है तथा अभिव्यक्तिमात्र से परे परम सद्ब्रह्म है और गुप्त रूप से एक साथ ये सभी चीजें हैं, जो सर्वत्र निगूढ अन्तर्यामी परात्परता है। जो आत्मा अपने-आपको पूर्ण रूप से ईश्वर को दे देती है, उसे ईश्वर भी अपने-आपको पूर्ण रूप से दे देता है। केवल वही जो अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को अर्पित कर देता है आत्मा को प्राप्त करता है। केवल वही जो प्रत्येक वस्तु दे सकता है सर्वत्र विश्वमय भगवान् का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम आत्म-उत्सर्ग ही परात्पर देव तक पहुँच पाता है। जो कुछ भी हम हैं उस सबको यज्ञ द्वारा ऊपर उठा ले जाने से ही हम सर्वोच्च देव को साकार रूप में प्रकट करने और यहाँ परात्पर आत्मा की अन्तर्यामी चेतना में निवास करने में समर्थ हो सकते हैं।

जो माँग हमसे की जाती है वह संक्षेप में यही है कि हम अपने सम्पूर्ण जीवन को एक सचेतन समर्पण का रूप दे दें। हमें अपनी सत्ता के प्रत्येक पल और प्रत्येक गति को सनातन देव के प्रति एक सतत और भक्तियुक्त आत्मदान में परिणत करना होगा। अपने सभी कर्मों को, छोटे-से-छोटे और अत्यन्त साधारण एवं तुच्छ कर्मों को तथा बड़े-से-बड़े और अत्यन्त असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मों को, सभी को एकसमान, ईश्वरार्पण-भाव से करना होगा। हमारी व्यष्टिभावापन्न प्रकृति को एक ऐसी बाह्य तथा आन्तर क्रिया की अखण्ड चेतना में निवास करना होगा जो हमसे परे की, और अहं से महान् किसी वस्तु के प्रति निवेदित हो। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हवि किस वस्तु की है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं, पर भेंट करते समय ऐसी चेतना होनी चाहिये कि सभी सत्ताओं में विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ता को ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं। हमारे

अत्यन्त साधारण और अति स्थूल भौतिक कार्यों को भी ऐसा उदात्त रूप धारण करना होगा। जब हम भोजन करें, हमें इस रूप में सचेतन होना चाहिये कि हम अपना भोजन अपने अन्दर विराजमान उस दिव्य उपस्थिति को दे रहे हैं। अवश्य ही इसे मन्दिर में एक पवित्र आहुति होना चाहिये और केवल शारीरिक आवश्यकता या शारीरिक भोग का भाव हमसे दूर हट जाना चाहिये। किसी भी महान् प्रयास में, किसी भी ऊँची साधना में अथवा किसी भी कठिन या उदात्त पुरुषार्थ में—चाहे हम उसका बीड़ा अपने लिए उठायें या दूसरों के लिए या जाति के लिए—यह अब सम्भव नहीं होना चाहिये कि हम जाति-सम्बन्धी, अपने-आप-सम्बन्धी या दूसरों-सम्बन्धी धारणा में ही बँध जायें। जो काम हम कर रहे हैं वह हमें सचेतन भाव से कर्मों के यज्ञ के रूप में अर्पित करना होगा, पर अपने-आपको, दूसरों को या जाति को नहीं, बल्कि इनके द्वारा या सीधे ही एकमेव देवाधिदेव को अर्पित करना होगा; जो अन्तर्वासी ईश्वर इन आकारों के पीछे छिपे हुए थे उन्हें अब और अधिक हमसे छिपा नहीं रहना चाहिये, बल्कि हमारी आत्मा, हमारे मन और हमारी इन्द्रियों के समक्ष सदा उपस्थित रहना चाहिये। अपने कर्मों की प्रक्रियाएँ और परिणाम हमें उन एकमेव के हाथों में सौंप देने चाहियें, इस भाव से कि वह उपस्थिति अनन्त और परमोच्च है और वही हमारे प्रयत्न तथा हमारी अभीप्सा को सम्भव बनाती है। उसी की सत्ता में सब कुछ घटित होता है; उसी के लिए प्रकृति हमसे समस्त प्रयत्न और अभीप्सा करवाती है और उस सबको फिर उसी की वेदी पर अर्पित कर देती है। जिन कार्यों में अति स्पष्ट रूप से प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रिया के साक्षी, धारक और सहायक मात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामी का ऐसा ही सतत स्मरण और स्थिर ज्ञान बनाये रखना चाहिये। हमारे अन्दर हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदय की धड़कन तक को भी सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना ही होगा। उन्हें विश्वव्यापी यज्ञ के जीवित-जाग्रत् लय-ताल के रूप में अनुभव करना होगा।

CWSA खण्ड २३, पृ. १०६, १०९-११

श्रीअरविन्द

साधना के तीन पहलुओं पर मार्गदर्शन^१

आध्यात्मिक खोज का पहला सच्चा उद्देश्य

सचमुच आध्यात्मिक सत्य और आध्यात्मिक जीवन को खोजने का पहला कारण या लक्ष्य है, भगवान् को पाना; यह एकमात्र अनिवार्य वस्तु है और बाकी सब इसके बिना कुछ नहीं है। एक बार भगवान् मिल जायें तो उन्हें अभिव्यक्त करना—यानी पहले-पहल अपनी सीमित चेतना को भागवत चेतना में रूपान्तरित करना, अनन्त शान्ति, ज्योति, प्रेम, बल, आनन्द में जीना, अपनी तात्त्विक प्रकृति में वही बन जाना और परिणाम-स्वरूप अपनी सक्रिय प्रकृति में उसका पात्र, वाहिनी और यन्त्र बनना। जड़-भौतिक स्तर पर एकत्व के तत्त्व को सक्रिय बनाना या मानवजाति के लिए कार्य करना—यह सत्य का अशुद्ध मानसिक अनुवाद है; ये चीजें आध्यात्मिक प्रयास का पहला सच्चा लक्ष्य नहीं हो सकतीं। पहले हमें आत्मा को, भगवान् को खोजना होगा, उसके बाद ही हम यह जान सकते हैं कि वह कौन-सा काम है जिसके लिए आत्मा या भगवान् हमसे माँग करते हैं। तब तक हमारा जीवन और कर्म भगवान् को पाने के साधन या उसमें सहायक हो सकते हैं। इसके सिवा इनका कोई और लक्ष्य नहीं होना चाहिये। जैसे-जैसे हम आन्तरिक चेतना में बढ़ते हैं या भगवान् का आध्यात्मिक सत्य हमारे अन्दर विकसित होता है, वैसे-वैसे हमारा जीवन और हमारा कर्म वस्तुतः उसी से अधिकाधिक प्रवाहित होना, उसके साथ एक हो जाना चाहिये। लेकिन अपनी सीमित मानसिक धारणाओं द्वारा पहले से ही यह निश्चय करना कि उन्हें क्या होना चाहिये, आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य के विकास में बाधा पहुँचाना है। उसके विकास के साथ-साथ हम अपने अन्दर दिव्य ज्योति, सत्य, दिव्य शक्ति, सामर्थ्य, दिव्य शुद्धि और शान्ति को काम करते हुए, हमारे कर्मों और हमारी चेतना के साथ व्यवहार करते, उन्हें हमें दिव्य मूर्ति की तरह गढ़ते, कूड़े-करकट को साफ़ करते और उसके स्थान पर आत्मा के शुद्ध स्वर्ण को लाते हुए अनुभव करेंगे। केवल तभी जब हमारे अन्दर

^१ अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति वूड्रो विल्सन की सुपुत्री मारगरेट विल्सन—श्रीअरविन्द ने जिन्हें निष्ठा नाम दिया था—को लिखा श्रीअरविन्द का पत्र।

उपशीर्षक सं. द्वारा दिये गये हैं।

सदा-सर्वदा दिव्य उपस्थिति रहे और हमारी चेतना रूपान्तरित हो जाये, हम यह कहने का अधिकार पा सकते हैं कि हम भौतिक स्तर पर भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए तैयार हैं। किसी मानसिक आदर्श या सिद्धान्त को लेकर उसे आन्तरिक क्रियाओं पर आरोपित करना अपने-आपको मानसिक उपलब्धि तक सीमित कर लेने का खतरा मोल लेना होता है या अधकचरे रूपायण द्वारा पूर्ण घनिष्ठता तथा ऐक्य में भगवान् के साथ के सच्चे विकास और हमारे जीवन में उनकी इच्छा के मुक्त और घनिष्ठ प्रवाह में बाधा देना या झुठलाना होता है। यह दिग्विन्यास की भूल है, आज का मानस विशेष रूप से इसकी ओर प्रवृत्त रहता है। इन छोटी-छोटी चीज़ों की ओर मुड़ने की जगह, जो हमें एकमात्र आवश्यक वस्तु की ओर से मोड़ देती हैं, कहीं अधिक अच्छा है शान्ति, प्रकाश या आनन्द के लिए भगवान् की शरण में जाना। जड़-भौतिक जीवन को और साथ ही आन्तरिक जीवन को दिव्य बनाना दिव्य योजना का वह भाग है जिसे हम देख सकते हैं, लेकिन उसे केवल आन्तरिक उपलब्धि के प्रवाह के द्वारा ही परिपूर्ण किया जा सकता है, किसी ऐसी चीज़ के द्वारा जो अन्दर से बाहर की ओर बढ़ती है, किसी मानसिक सिद्धान्त के कार्यान्वयन द्वारा नहीं।

मानसिक खोज को आध्यात्मिक अनुभूति में बदलना

तुमने पूछा है कि मानसिक खोज को जीवन्त आध्यात्मिक अनुभूति में बदलने के लिए कौन-सी तपस्या या अनुशासन का अनुकरण करना ज़रूरी है। पहली आवश्यकता है अपने अन्दर अपनी चेतना की एकाग्रता का अभ्यास। सामान्य मानव मन की क्रियाशीलता ऊपरी तल पर होती है जो सच्ची आत्मा को ढक देती है। सतह के पीछे एक और छिपी हुई चेतना होती है जिसमें हम सच्ची आत्मा और प्रकृति के अधिक विशाल और गहनतर सत्य के बारे में अभिज्ञ हो सकते हैं, आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं और प्रकृति को मुक्त और रूपान्तरित कर सकते हैं। इस एकाग्रता का उद्देश्य है ऊपरी मन को निश्चल करना और अन्दर निवास करना शुरू करना। ऊपरी चेतना से भिन्न इस सच्ची चेतना के दो मुख्य केन्द्र हैं, एक हृदय में (शारीरिक हृदय में नहीं बल्कि वक्षस्थल के बीच में हृदय-चक्र में) और दूसरा मस्तिष्क में। हृदय के अन्दर एकाग्रता अन्दर

की ओर खुलती है और इस आन्तरिक उद्घाटन का अनुसरण करने और उसकी गहराई में जाने पर व्यक्ति अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष से, यानी व्यक्ति में विद्यमान दिव्य तत्त्व से अभिज्ञ हो जाता है। खुल कर यह सत्ता आगे आना, प्रकृति पर शासन करना, उसे तथा उसकी सभी गतिविधियों को सत्य की ओर, भगवान् की ओर मोड़ना और जो कुछ ऊपर है उस सबको नीचे बुलाना शुरू करती है। वह दिव्य उपस्थिति की चेतना को, सत्ता के अर्पण को उच्चतम की ओर लाती है और महत्तर शक्ति और चेतना की प्रकृति को, जो ऊपर हमारे लिए प्रतीक्षा कर रही है, उसके अवरोहण को निमन्त्रित करती है। हृदय-केन्द्र में एकाग्र होना और अपने-आपको भगवान् के अर्पण करना और इस आन्तरिक उद्घाटन के लिए और हृदय में दिव्य उपस्थिति के लिए अभीप्सा करना पहला तरीका है, और इसे किया जा सके तो यह स्वाभाविक प्रारम्भ है; क्योंकि इसका परिणाम, एक बार प्राप्त हो जाये तो यह आध्यात्मिक पथ को दूसरे मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और सुरक्षित बना देता है।

एक दूसरा मार्ग है मस्तिष्क में, मानसिक केन्द्र में, एकाग्रता। अगर यह ऊपरी तल के मन में निश्चल-नीरवता ला सके तो वह एक आन्तरिक, विशालतर और गहनतर मन को खोलता है जो आध्यात्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने में अधिक सक्षम होता है। लेकिन एक बार यहाँ एकाग्र होकर हमें नीरव मानसिक चेतना को ऊपर की ओर उन सभी चीज़ों के प्रति खोलना चाहिये जो मन के ऊपर हों। कुछ समय के बाद मनुष्य यह अनुभव करता है कि चेतना ऊपर उठ रही है और अन्त में वह उस ढक्कन के ऊपर उठ जाती है जो उसे इतने लम्बे समय तक शरीर से बाँधे रहा और फिर मस्तिष्क के ऊपर एक चक्र को पाती है जहाँ वह अनन्त में मुक्त हो जाती है। वहाँ वह वैश्व आत्मा, दिव्य शान्ति, प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, आनन्द के सम्पर्क में आना, उसके अन्दर प्रवेश करना, वही बन जाना, इन चीज़ों को अपनी प्रकृति के अन्दर अवतरित होते हुए अनुभव करना शुरू करती है। मन में अचञ्चलता की अभीप्सा के लिए और ऊपर आत्मा तथा भगवान् की अनुभूति की उपलब्धि के लिए सिर में एकाग्र होना—यह एकाग्रता का दूसरा मार्ग है। लेकिन यह याद रखना ज़रूरी है कि सिर में चेतना की एकाग्रता उसके ऊपर के केन्द्र में चढ़ने

की तैयारी-मात्र है। अन्यथा व्यक्ति अपने ही मन और उसकी अनुभूतियों में बन्द रह जायेगा या बहुत हुआ तो आध्यात्मिक परात्परता तक उठने और उसमें निवास करने की जगह ऊपर के सत्य की प्रतिच्छाया तक ही पहुँच पायेगा। कुछ लोगों के लिए मानसिक एकाग्रता अधिक सरल है, कुछ औरों के लिए हृदय-केन्द्र में एकाग्रता ज्यादा सरल होती है और कुछ लोग बारी-बारी से दोनों कर सकते हैं—लेकिन अगर कर सको तो हृदय-केन्द्र से शुरू करना ज्यादा वाञ्छनीय है।

प्रकृति की गतियों से सम्बन्धित अनुशासन

इस अनुशासन या तपस्या का दूसरा पहलू प्रकृति की, मन की, प्राण-पुरुष या प्राण और भौतिक सत्ता की क्रियावली से सम्बन्ध रखता है। यहाँ सिद्धान्त है प्रकृति को आन्तरिक अनुभूति के साथ समस्वर कर देना ताकि साधक दो असंगत भागों में विभक्त न हो जाये। यहाँ कई प्रकार की तपस्याएँ या पद्धतियाँ सम्भव हैं। एक है अपने समस्त क्रिया-कलाप भगवान् को समर्पित कर देना और आन्तरिक पथ-प्रदर्शन का आह्वान करना कि एक उच्चतर शक्ति आकर तुम्हारी प्रकृति को अपने हाथ में ले ले। अगर अन्दर की ओर आत्मा का उद्घाटन हो जाये, अगर चैत्य पुरुष सामने आ जाये तब फिर कोई बड़ी कठिनाई नहीं रहती—उसके साथ-ही-साथ आ जाता है चैत्य विवेक, सतत सूचना और अन्त में ऐसा शासन जो सभी अपूर्णताओं को खोलता, चुपचाप धैर्य के साथ उन्हें दूर करता, उचित मानसिक और प्राणिक गतिविधियों को लाता और भौतिक चेतना को भी नया रूप देता है। एक और उपाय है; मन, प्राण और शरीर की सत्ताओं से दूर खड़े रहो, उनकी क्रियाओं को व्यक्ति के अन्दर व्यापक प्रकृति पर पिछले कर्मों द्वारा आरोपित अभ्यासगत रूपायण मानो, सच्ची सत्ता का भाग नहीं। मनुष्य इसमें जितना सफल होता है उसी अनुपात में वह अनासक्त होता है, मन और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, प्राण और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं, शरीर और उसकी क्रियाओं को अपने स्व के रूप में नहीं रखता। वह अपने अन्दर एक आन्तरिक सत्ता—आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण और आन्तरिक शरीर—के बारे में अभिज्ञ हो जाता है जो नीरव-निश्चल, स्थिर, अपार, अनासक्त होता है और ऊपर

की सच्ची आत्मा को प्रतिबिम्बित करता है, वह उसका प्रत्यक्ष प्रतिनिधि भी हो सकता है। इस आन्तरिक निश्चल-नीरव 'सत्ता' से उन सब चीजों का त्याग शुरू होता है जिन्हें त्यागना चाहिये और उन्हीं चीजों की स्वीकृति होती है जिन्हें रखा और रूपान्तरित किया जा सकता है—पूर्णता के लिए अन्तरतम 'इच्छा' या 'दिव्य शक्ति' को आवाहन ताकि वह पग-पग पर वह करे जिसका करना प्रकृति के परिवर्तन के लिए ज़रूरी है। वह मन, प्राण और शरीर को अन्तरतम चैत्य सत्ता और उसके पथ-प्रदर्शक प्रभाव या सीधे पथ-प्रदर्शन की ओर खोल भी सकती है। अधिकतम उदाहरणों में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ उभरती हैं, साथ ही काम करती और अन्त में एक हो जाती हैं। लेकिन व्यक्ति दोनों में से किसी भी पद्धति से शुरू कर सकता है, जो उसे सबसे अधिक स्वाभाविक और सरल मालूम होती हो। और अन्त में, सभी कठिनाइयों में, जहाँ व्यक्तिगत प्रयास में बाधा पड़ती है, गुरु की सहायता हस्तक्षेप कर सकती है और उस चीज़ को ला सकती है जिसकी उपलब्धि के लिए आवश्यकता हो या जो अगले ही चरण के लिए ज़रूरी हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६-८

कार्य तथा कार्य के प्रति उचित मनोभाव

... मन को निश्चल करने तथा आध्यात्मिक अनुभूति पाने के लिए पहले, प्रकृति को शुद्ध करना तथा उसे तैयार करना आवश्यक है। कभी-कभी इसमें अनेक वर्ष लग जाते हैं। इसके लिए, उचित मनोवृत्ति के साथ कार्य करना सबसे आसान तरीका है—यानी, निष्काम-भाव से या निरहंकार-भाव से कार्य किया जाये, कामना, माँग या अहंकार की सभी गतिविधियों को त्याग दिया जाये, सभी कार्य भगवती माता को अर्पण के रूप में किये जायें तथा उनके नाम-स्मरण और उनसे इस प्रार्थना के साथ किये जायें कि वे अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करें और कार्य को ग्रहण करें, जिससे वहाँ भी—न केवल आन्तरिक नीरवता में—तुम उनकी उपस्थिति तथा क्रियाशीलता को अनुभव कर सको।

CWSA खण्ड २९, पृ. २२६

श्रीअरविन्द

एकमात्र आवश्यकता : सदैव भगवान् की उपस्थिति में रहना

योग का अर्थ है, भगवान् के साथ सायुज्य, और यह सायुज्य आता है आत्मदान द्वारा—भगवान् के प्रति आत्मदान ही इसका आधार है। आरम्भ में तुम यह आत्मदान सामान्य रूप से शुरू करते हो, मानों सदा के लिए तुम्हारा यह काम पूरा हो गया; तुम कहते हो: “मैं भगवान् का सेवक हूँ; मेरा जीवन पूर्ण रूप से भगवान् को दे दिया गया है, मेरे सभी प्रयत्न ‘दिव्य जीवन’ की प्राप्ति के लिए हैं।” पर यह तो केवल पहला क्रदम है; क्योंकि इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्प के बाद भी, इस निश्चय के बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवन को भगवान् के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवन में प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और प्रत्येक ब्योरे में चरितार्थ करनी होगी। तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान् के हो; तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ भी सोचते या करते हो, उसमें हमेशा ‘भागवत चेतना’ ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। अपनी कह सकने के लिए अब तुम्हारे पास कोई चीज़ नहीं होती; हर चीज़ भगवान् के यहाँ से आयी हुई अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोत की भेंट कर दो।...

सामान्य रूप से किये गये आत्मदान को जीवन के प्रत्येक ब्योरे में लाने का तरीका यह है : हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपने सभी क्रिया-कलापों को इसी को समर्पित कर दो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी; उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही भोजन कर रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक ‘अखण्ड जीवन’ में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अन्दर भेदभाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् को समर्पित हो और बाक़ी भाग अपनी साधारण वृत्तियों

में पड़े रहें और साधारण चीज़ों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगेगा।

पूर्णयोग में छोटे-से-छोटे व्योरे के साथ सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तर करना होगा, उसे दिव्य बनाना होगा। यहाँ कोई चीज़ नगण्य या तुच्छ नहीं है। तुम यह नहीं कह सकते : “जब मैं ध्यान करता हूँ, दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता हूँ या ऐसे वार्तालाप सुनता हूँ तब तो मैं भागवत ज्योति की ओर खुलने और उसे बुलाने की अवस्था में रहूँगा, किन्तु जब मैं टहलने जाऊँ या किसी मित्र से मिलूँ तब मैं इन बातों को भुला सकता हूँ।” इस भाव को बनाये रखने का अर्थ होगा कि तुम्हारा रूपान्तर कभी न हो सकेगा और तुम्हें भगवान् के साथ सच्चा सायुज्य कभी प्राप्त न होगा। तुम्हारे सदा दो भाग बने रहेंगे; अधिक-से-अधिक तुम्हें इस महत्तर जीवन की कुछ झाँकियाँ मिल सकेंगी। हो सकता है कि ध्यान के समय तुम्हें अपनी आन्तरिक चेतना में कुछ अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त हो जायें, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपान्तरित हुए बिना ही रह जायेगा।...

जब हम मानसिक प्रवृत्तियों में अथवा बौद्धिक व्यापारों में एकाग्र रहते हैं, तब कभी-कभी भगवान् को क्यों भूल जाते हैं अथवा उनका स्पर्श क्यों गँवा बैठते हैं?

तुम इसलिए गँवा बैठते हो क्योंकि तुम्हारी चेतना अभी तक बँटी हुई है। तुम्हारे मन में भगवान् अभी तक अच्छी तरह बसे नहीं हैं, अभी तक तुम ‘दिव्य जीवन’ पर पूर्ण रूप से न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो इस प्रकार के कामों में तुम चाहे जितने लीन क्यों न रहो, फिर भी तुम्हें यह भान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुम्हें सहारा दिये हुए हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में, चाहे वह बौद्धिक हो या सक्रिय, तुम्हारा एकमात्र मन्त्र होना चाहिये : “स्मरण और समर्पण”। तुम जो कुछ करो वह सब भगवान् के अर्पण हो। यह तुम्हारे लिए एक सुन्दर साधना बन जायेगी और अनेक मूर्खतापूर्ण और निरर्थक चीज़ों से तुम्हारी रक्षा करेगी।

कार्य के आरम्भ में प्रायः ऐसा किया जा सकता है, किन्तु जैसे-जैसे कोई कार्य में लीन होता जाता है वैसे-वैसे भूलता जाता है। स्मृति बनाये रखने का क्या उपाय है?

जिस अवस्था को प्राप्त करना है, जो योग की वास्तविक उपलब्धि, अन्तिम पूर्णता और सिद्धि है, जिसके लिए बाक़ी सब कुछ केवल तैयारी है, वह है एक ऐसी चेतना जिसमें भगवान् के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। तब यदि तुम भगवान् के बिना रहो तो तुम्हारी क्रिया का स्रोत ही लुप्त हो जाता है; ज्ञान, शक्ति सब कुछ चले जाते हैं। परन्तु जब तक तुम यह अनुभव करते रहोगे कि जिन शक्तियों का तुम उपयोग कर रहे हो वे तुम्हारी अपनी हैं तब तक तुम्हें भगवान् के सहारे का अभाव नहीं खटकेगा।

योग-साधना के आरम्भ में बहुत सम्भव है कि तुम बहुधा भगवान् को भूल जाओ। परन्तु सतत अभीप्सा के द्वारा तुम अपनी स्मृति को बढ़ाते और विस्मृति को घटाते हो। परन्तु यह किसी कठोर तपस्या या कर्तव्य के रूप में नहीं करना चाहिये, यह साधना प्रेम और आनन्द की एक सहज अभिव्यक्ति होनी चाहिये। तब शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायेगी कि अगर तुम प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करो तो तुम तुरत अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी दे कि तुम भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किये बिना ही कोई काम कर सकते हो और फिर भी चैन से रह सकते हो तभी तुम्हें समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ता के उस भाग का अभी तक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव समाज का तरीका है जिसे भगवान् की कोई ज़रूरत महसूस नहीं होती। परन्तु 'दिव्य जीवन' के साधक का मार्ग सर्वथा भिन्न है। और जब भगवान् के साथ तुम्हारी पूर्ण रूप से एकता हो जाये तो, यदि क्षण-भर के लिए भी भगवान् अपने-आपको तुमसे अलग कर लें तो तुम मृतप्राय हो जाते हो। क्योंकि तब भगवान् ही तुम्हारे प्राणों के प्राण, तुम्हारा समग्र अस्तित्व, तुम्हारा एकमात्र और सम्पूर्ण सहारा होते हैं। तब यदि भगवान् न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. २७-३२

हमेशा याद रखो

जो 'तू चाहे वही होने का अर्थ है, दिव्य होना।

*

हर दिन, हर क्षण, एक नये और अधिक पूर्ण समर्पण का अवसर होना चाहिये, कर्म के बारे में भ्रमों से भरे, उत्साहपूर्ण, घबरा देने वाले, अत्यधिक सक्रिय समर्पणों का नहीं, बल्कि गहरे और नीरव समर्पण का, जिसका दिखलायी देना ज़रूरी नहीं है पर जो सभी कर्मों में प्रवेश करता और उन्हें रूपान्तरित कर देता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ५०

... समस्त दुःख इस बात का सूचक है कि समर्पण समग्र नहीं है। तो जब तुम अपने अन्दर इस तरह के "प्रहार" का अनुभव करो तो यह कहने की बजाय, "ओह, यह ख़राब है" या "यह परिस्थिति कठिन है", तुम यह कहो, "मेरा समर्पण पूर्ण नहीं है," तो यह ठीक होगा। और फिर तुम उस परम कृपा का अनुभव करोगे जो तुम्हारी सहायता करती है, जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करती है और तुम आगे बढ़ते चले जाते हो। और फिर एक दिन तुम उस शान्ति में उभर आते हो जिसे कुछ भी विचलित नहीं कर सकता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ४४१-४२

जब तक तुम आनन्द में, सतत, शान्त, निश्चल, प्रकाशमय, अपरिवर्तनशील आनन्द में न रह सको, हाँ, तब तक इसका मतलब है कि अभी अपने-आपको शुद्ध करने के लिए काम करना, और कभी-कभी कठोर परिश्रम करना बाक़ी है। लेकिन चिह्न यही है।

वियोग के भाव के साथ ही कष्ट, दुःख, दुर्गति, अज्ञान और सभी अक्षमताएँ आयी हैं। केवल सम्पूर्ण आत्मदान में अपने-आपको भुला देने से ही और पूर्ण निवेदन के द्वारा ही दुःख गायब हो सकता है और उसकी जगह एक ऐसा आनन्द ले सकता है जिसे कुछ भी छिपा न सके।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४३७

मुझे हमेशा अपने साथ रखो

परिशिष्ट : उदार (एक आश्रमवासी) माँ के साथ हुई एक बातचीत का ब्योरा दे रहे हैं :

एक दिन मैंने माँ से पूछा : “कई सालों से मैं योग कर रहा हूँ, लेकिन श्रीअरविन्द का योग किस तरह किया जाये इसके बारे में मेरे अन्दर पूरी निश्चिन्ता नहीं है। मैं उनके सभी ग्रन्थ पढ़ता हूँ और योग करने का प्रयास भी करता हूँ, लेकिन इसके बारे में मैं निश्चित नहीं हूँ कि मेरी प्रगति कहाँ तक हुई है।” मैंने माँ से मेरी सहायता करने के लिए प्रार्थना की।

“तुम सब कुछ एकदम से गलत कर रहे हो,” वे बोलीं। यह सुन कर मैं तो एकदम से सिटपिटा गया।

“लेकिन मैं क्या करूँ?” मैंने पूछा।

उन्होंने कहा, “मैं तुम्हारे लिए योग करूँगी।” मैं खुशी से झूम उठा!

“तब मुझे क्या करना है माँ?” मैंने फिर पूछा।

“अपने-आपको मेरे हवाले कर दो और मैं तुम्हारे लिए कर दूँगी,” वे बोलीं।

मैंने कहा, “कैसे...?” प्रत्युत्तर में उन्होंने मुझसे कहा, “क्या तुम सचमुच चाहते हो?” मैंने जवाब दिया, “जी माँ, निश्चित रूप से चाहता हूँ।”

माँ ने पूछा, “सबेरे उठते ही पहली चीज़ तुम क्या करते हो?”

“मंजन करता हूँ माँ।” मैं बोला। वे बोलीं, “मंजन कैसे करते हो?”

मुझे आश्चर्य हुआ, “कैसे?! जैसे सब करते हैं माँ।”

उन्होंने कहा, “तब तुम अचेतन रूप से करते हो। इसकी जगह, जब तुम दाँत माँजो तब मेरे बारे में सोचो। सोचो कि मैं कर रही हूँ।”

“या जब तुम अपना चेहरा धोओ तब यह सोचो कि तुम्हारे साथ मैं भी हूँ, या जब तुम भोजन करो तो सोचो कि मैं भी तुम्हारे साथ खा रही हूँ, कि तुम्हारे साथ मैं भी भोजन का आनन्द ले रही हूँ।”

उन्होंने यह भी जोड़ा, “जब तुम सोने जाओ तो यही वह समय है जब तुम्हें मेरे बारे में बहुत सचेतन होना चाहिये। मुझे तुम्हें सुलाने दो, सारी रात तुम्हारी नींद सचेतन होगी। तब सबेरे उठ कर अपने दिन का आरम्भ तुम अधिक सचेतन तरीके से करोगे।”

—उदार दा

‘पुरोधः’ :

दुनिया को बदलने का नुस्खा

(कनिष्ठा जी के जन्मदिन का सालाना तोहफ़ा—सं.)

भगवान् श्रीकृष्ण की कहानियाँ तो अनन्त और अनगिनत हैं। उनका जनम कहाँ हुआ, क्यों हुआ, और कैसे पिता वसुदेव उन्हें एक टोकरी में छिपा कर उफनती नदी के पार ले गये... और इस तरह कैसे दुष्ट राजा कंस का वध करने वाला इस धरती पर जीवित रह गया। हमें यह भी मालूम है कि कैसे निस्सन्तान दम्पति नन्दकुमार और यशोदा की वीरान जिन्दगी एक सुन्दर बच्चे को पाकर एकदम से सँवर गयी।

नटखट माखनचोर की कहानियाँ तो मशहूर हैं ही। उनके बंसीवादन से दानव और मानव दोनों मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। अपने मित्रों के साथ खेलते वक्रत जब गेंद उस तालाब में गिर गयी, जहाँ ज़हरीला दसमुँह साँप कलिंग रहता था, तब निडर होकर बाल कृष्ण पानी में कूद पड़े। सभी गाँववाले, और ख़ासकर यशोदा मैया, डरे हुए, चिन्तित, किनारे पर खड़े थे... पाँच साल का छोटा बच्चा इतने शक्तिशाली ज़हरीले साँप से क्या जूझेगा... सभी प्रार्थना कर रहे थे उसकी रक्षा के लिए। तभी पानी में से वह साँप निकला... और उसके दस फनों पर विराजमान थे श्रीकृष्ण, मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए... और नृत्य करते हुए! यह नृत्य “कलिंगनर्तन” के नाम से पूरी दुनिया में प्रसिद्ध है। ये सब बहुत ही प्रचलित, जानी-मानी कहानियाँ हैं। और हाँ, गोपियों को श्रीकृष्ण कैसे तंग किया करते थे, यह भी सुना है। वे तालाब में नहाने जातीं, तो पेड़ पर टँगे उनके सभी कपड़े चुरा लेते थे! लेकिन वे ही कृष्ण, द्रौपदी के चीर-हरण के वक्रत उसके सामने प्रकट हुए, और उन्होंने उनकी लाज रखी।

श्रीकृष्ण और सुदामा बहुत ही घनिष्ठ मित्र थे। सुदामा बहुत ग़रीब था और श्रीकृष्ण तो मथुरा के शक्तिशाली राजा थे। कहते हैं कि सुदामा इतने ग़रीब थे कि उनकी पत्नी और उनके बच्चे हमेशा भूखे पेट ही सोते थे, चीथड़े पहनते थे और सर छुपाने को छत भी नहीं थी उनके पास। एक दिन सुदामा की पत्नी ने हार मान ली, उसने कहा कि अगर कोई मदद कर सकता है तो वे हैं आपके मित्र राजा श्रीकृष्ण। अगर आपकी दोस्ती

सच्ची है, तो वे ज़रूर आपकी मदद करेंगे। सुदामा और श्रीकृष्ण गुरुकुल में मिले थे और बहुत ही करीब दोस्त बन गये थे। मगर पढ़ाई खत्म करने के बाद वे अपने-अपने रास्ते निकल गये थे। श्रीकृष्ण मथुरा के राजा बन गये और बेचारा सुदामा दर-दर भटकता ख़ास कुछ कर नहीं पाया और गरीबी का शिकार बन गया। अब श्रीकृष्ण के पास जाने में दो समस्याएँ थीं, एक तो यह कि शायद श्रीकृष्ण को अपने मित्र के बारे में याद ही न हो। और दूसरी बात यह थी कि वह ख़ाली हाथ तो जा नहीं सकता था। जिसके ख़ुद के घर में लाले पड़े हों, वह मथुरा-राज्य के राजाधिराज को भला क्या भेंट दे सकता था? लेकिन उसे याद आया कि श्रीकृष्ण को चूड़ा बहुत पसन्द था, तो वह वही लेकर हिचकिचाता हुआ पहुँच गया मथुरा! और किस तरह आन-बान और शान से श्रीकृष्ण ने अपने मित्र का स्वागत किया, यह तो इतिहास ही गवाह है!

श्रीकृष्ण के मानव और दिव्य रूपों के दर्शन कर हम धन्य हो उठते हैं। भगवद्-गीता में कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के समय अर्जुन के सारथी बन कर उन्होंने उस वीर को हौसला दिया जो अपनों को मारने में हिचकिचा रहा था। उन्होंने पूरे संसार को अपने दिव्य दर्शन दिये और मानवजाति को अपने उपदेशों से धन्य कर दिया।

परन्तु कुछ ही दिन पहले, इण्टरनेट में मैंने श्रीकृष्ण और अर्जुन के बारे में एक ऐसी कहानी पढ़ी जो मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। जैसा कि मैंने कहा, श्रीकृष्ण की कहानियाँ अनन्त और अनगिनत हैं। और उनमें से हर एक जितनी भी सरल और सामान्य क्यों न प्रतीत होती हो, उसके पीछे तो जीवन के बारे में, जगत् के बारे में, एक गहरा अर्थ, एक परम सत्य छिपा ही होता है। तो लीजिये सुनिये...

श्रीकृष्ण और अर्जुन, रोज़ शाम को टहलने निकला करते थे। एक दिन चलते-चलते उन्हें एक ब्राह्मण दिख गया जो सड़क के किनारे बैठा भीख माँग रहा था। अर्जुन को उस पर बहुत दया आयी। उन्होंने अपनी पोटली से मुट्ठी-भर सोने के सिक्के निकाल कर ब्राह्मण के कटोरे में उँडेल दिये। ब्राह्मण खुशी से उछलता हुआ घर की तरफ़ भागा। आज तो उसका दिन ही नहीं, पूरा जीवन ही सार्थक हो गया था। अब से न भीख माँगनी पड़ेगी, न ही काम करना पड़ेगा! मगर अफ़सोस! कटोरे में सिक्कों की खनकती

आवाज़ वहाँ से गुज़रते हुए एक चोर के कानों में पड़ी। उसने ब्राह्मण का पीछा किया और घर पहुँचने से कुछ क्षण पहले उससे सारे सिक्के छीन लिए... तो अगले दिन जब अर्जुन और श्रीकृष्ण टहलने निकले, तो उन्होंने उसी ब्राह्मण को फिर से भीख माँगते हुए पाया। उसे देख अर्जुन आश्चर्यचकित रह गये! उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा, “देखिये इसे, फिर आ गया है! मैंने सोचा था कि जितना धन मैंने उसे कल दिया था, उससे तो इसकी पूरी ज़िन्दगी सँवर जायेगी!” पूछे जाने पर ब्राह्मण ने अर्जुन को अपना सारा दुःखड़ा सुनाया। सुन कर अर्जुन का हृदय फिर से पिघल गया! उन्होंने उसे एक बहुत ही क्रीमती रत्न दिया और कहा कि इस बार सतर्क रहना। इतना क्रीमती रत्न देख कर ब्राह्मण बहुत ही खुश! घर पहुँच कर अनमोल रत्न को छिपाने की जगह ढूँढ़ने लगा। उसकी आँख एक पुराने मटके पर पड़ी। उसने सोचा, इससे बढ़ कर गुप्त स्थान हो ही नहीं सकता। अगर घर में चोर घुस आया तो वह पेट्टी में ही धन ढूँढ़ेगा और उसे यह रत्न मिलने से रहा! अपने-आपसे सन्तुष्ट वह कमलगट्टे बेच कर सो गया... ब्राह्मण की पत्नी नया मटका लेकर नदी किनारे पानी भरने गयी थी। बस, पहुँचने ही वाली थी कि उसके हाथ से मटका फिसला और गिर कर टूट गया। ‘अब करूँ तो क्या करूँ’—घर में एक फूटी कौड़ी भी न थी नया मटका ख़रीदने के लिए, और न ही एक बूँद पानी। फिर अचानक उसका माथा ठनका—कोने में एक पुराना मटका जो था! वह भागी-भागी लौटी, और दबे पाँव वह पुराना मटका लेकर निकल गयी। जी, वही मटका जिसमें वह रत्न जतन से छिपाया गया था! जैसे ही ब्राह्मण की पत्नी ने मटके को पानी में डुबोया, वह रतन फिसल कर निकल गया और बहते पानी में समा गया! इस घाटे से बिलकुल अनजान वह घर लौट आयी।

जब ब्राह्मण की आँखें खुलीं तो उसने अँगड़ाई ली, और धीमे-धीमे मुस्कुराता हुआ वह मटके की ओर बढ़ा। लेकिन मटका तो गायब था! फिर देखा कि उस मटके में तो पानी ही पानी है! पत्नी ने उसे बताया कि कैसे वह नया मटका टूट गया और वह पुराने मटके में पानी भर कर लायी थी।

इस हादसे के बाद ब्राह्मण ने हार मान ली। सोचा, मेरी क्रिस्मत में बस भिखारी बन कर रहना ही लिखा है।

तीसरे दिन जब अर्जुन और श्रीकृष्ण भ्रमण के लिए निकले, तो उस

ब्राह्मण को फिर से भीख माँगता हुआ देख अर्जुन को विश्वास नहीं हुआ!! उसने कहा, “मैं तो लगातार इसकी मदद कर रहा हूँ, मगर धन इसके हाथों में टिक ही नहीं रहा है! बस, यही सच है कि क्रिस्मत में जो लिखा होता है, वही होता है। होनी को कोई टाल नहीं सकता!”

लेकिन यह ग़लत बात है! क्योंकि भगवान् तक्रदीर का रुख ज़रूर बदल सकते हैं। निर्माता ही अपनी रचना को दोबारा निर्मित कर सकते हैं। चलिये देखते हैं, हमारी आज की कहानी में यह बात साबित कैसे होती है!

जब ब्राह्मण ने अर्जुन को फिर से अपना दुःखड़ा सुनाया, तो श्रीकृष्ण ने कहा, “चलो, आज मैं देता हूँ इसे दान।” यह कह कर उन्होंने दो पैसे का एक सिक्का कटोरी में रख दिया। यह देख कर अर्जुन बोल उठे, “हे दीनबन्धु! मुट्ठी-भर सोने के सिक्कों से और क्रीमती रत्न से मैं इस बेचारे ब्राह्मण की ग़रीबी को दूर नहीं कर पाया। इन दो पैसों से भला क्या होगा?”

श्रीकृष्ण मुस्कुराये... वह मुस्कान जिसे सारी दुनिया जानती है, मीठी-सी, दिव्य और ज्ञान से भरपूर। वही मुस्कान जो सबको मन्त्रमुग्ध कर देती है।

बेचारा ब्राह्मण हताश हो गया। सोचा, “एक आदमी जितना उदार, उसका साथी उतना ही निर्मम और कंजूस!” मगर कुछ कहने की उसकी औकात ही कहाँ थी। भिखारी भीख चुन-चुन कर थोड़े ही ले सकते हैं, झोली में जो आता है, उसे बस स्वीकारना पड़ता है। वह भारी मन से लौट रहा था कि रास्ते में उसे एक मछुआरा दिख गया। वह कुछ छोटी-छोटी मछलियाँ बेच रहा था। अगर आज ये मछलियाँ नहीं बिकीं तो उसके बच्चों को भूखे पेट ही सोना पड़ेगा। आशा-भरी आँखों से वह ब्राह्मण को अपनी तरफ़ आते देख रहा था, मगर जब वह नज़दीक आ गया तो उसकी आँखों की चमक बुझ गयी। यह तो ब्राह्मण था, यह मछली क्या ख़रीदेगा? जब ब्राह्मण ने मछुआरे का उदास चेहरा देखा, तो उसने सोचा, “इन दो पैसों से मैं ये मछलियाँ ख़रीद लेता हूँ। इस तरह मछुआरा घर ख़ाली हाथ नहीं लौटेगा और इन मछलियों को मैं नदी में छोड़ देता हूँ। इस तरह एक ही कर्म से मैं दो-दो पुण्य कमाऊँगा!” और मछलियों को पानी से भरे कटोरे में डाल कर ब्राह्मण निकल पड़ा नदी की ओर। अचानक एक मछली के मुँह से कुछ निकला, और खनक के साथ कटोरे में गिरा। देखा, अरे! यह तो

वही रतन था जो अर्जुन ने उसे दिया था! ब्राह्मण तो खुशी से पागल हो उठा, चीखने लगा, “मुझे वह मिल गया, वह मिल गया!”

अब संजोग की बात थी कि जिस चोर ने उसके सोने के सिक्के चुराये थे, वहीं एक पेड़ के पीछे छिप कर अपने अगले शिकार का इन्तज़ार कर रहा था। जब उसने ब्राह्मण को चिल्लाते हुए उसकी तरफ़ भागते देखा, तो वह डर गया। उसने समझ लिया कि “वह मिल गया” का इशारा उसी की तरफ़ था! अगर वह पकड़ा गया तो उसे सज़ा सज़ा होगी, जेल की हवा खानी पड़ेगी। तो डर के मारे उसने सिक्कों से भरे थैले को फेंका और नौ-दो-ग्यारह हो गया! तो इस तरह ब्राह्मण को सिक्के भी मिल गये और अनमोल रत्न भी! उसका भाग्य खुल गया था!

जब अर्जुन को यह सब पता चला तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। कहने लगे, “मगर यह सब हुआ कैसे? मैंने तो इतनी उदारता से दान किया था... सोने के सिक्के और अनमोल रतन। और आपने तो बस दो ही पैसे दिये थे! इसका रहस्य क्या है?” श्रीकृष्ण मुस्कुराये और बोले, “जब तुमने दान किया था पार्थ, उस ब्राह्मण ने बस अपने बारे में ही सोचा। मैं कैसे तरक्की करूँ और कैसे अमीर बनूँ, कैसे अपने परिवार सहित सुखद ज़िन्दगी बिताऊँ... वह उसका अहम् था। लेकिन जब मैंने दिया, तब उसने दूसरों की भलाई की सोची, ब्राह्मण होते हुए भी मछुआरे से मछी ख़रीदी, ताकि उसके बच्चे भूखे न सोयें। सत्य को यह है कि जब-जब मनुष्य अपने बारे में न सोच कर किसी दूसरे के हित में सोचता है, तब-तब वह भगवान् का काम करता है। और जब कोई मेरा काम करता है, तो क्या मैं उसका काम नहीं कर सकता, क्या मैं उसका नसीब नहीं बदल सकता? अवश्य बदल सकता हूँ।”

तो इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण ने उस ब्राह्मण की तक्रदीर ही पलट दी थी। तो यह थी श्रीकृष्ण और अर्जुन की एक छोटी कहानी जो एक बहुत बड़ा सत्य दर्शाती है।

अहम् ही मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन है। जिस दिन हम उसे त्याग पायेंगे, उस दिन दुनिया ही बदल जायेगी। दुःख, दर्द, हिंसा, क्लेश, ईर्ष्या, क्रोध, क्रूरता... ये सब विलीन हो जायेंगे और हमारी धरा फिर से दिव्य और प्रकाशित बन जायेगी!...

—कनिष्ठा

प्रभो! दशग्रीव आपकी शरण में आ रहा है...

सामान्य दृष्टि से देखने पर तो शिवजी का अनन्योपासक दशग्रीव श्रीराम का घोर शत्रु था... घोर शत्रु या फिर...

रावण के मन में अन्धड़ चल रहा था। अपनी बहन सूपनखा की दुर्दशा देख असुराधिपति दहल उठा था—मेरी बहन को बीभत्स बनाने वाले, मेरे भाइयों—खर-दूषण—का संहार करने वाले ये राम भारत के दक्षिण में आ गये। लंका अब दूर नहीं है। सचमुच कौन हैं ये राम जिनके नाम से अब मेरे असुर थर-थर काँपते हैं? पहले तो कभी किसी का आतंक इस तरह लंकापुरी में नहीं छाया! अब मुझे गम्भीरता के साथ इनसे लोहा लेने की बात सोचनी पड़ेगी... रावण के मन में उधेड़बुन चलती चली जा रही थी और हथौड़े की तरह बज रहे थे सेनापति अकम्पन के शब्द —“महाराज, मैं तो उन दोनों भाइयों को देख कर विस्मयाभिभूत हो उठा था। राजाधिराज, क्षमा करें, लेकिन रूप की इतनी सुषमा, तेज की ऐसी राशि मैंने ब्रह्मा की सृष्टि में न देखी, न ही कभी सुनी। देव, उनका हनन कर सृष्टि की सुन्दरता के उत्कृष्टतम उदाहरण को नष्ट करने का पहले तो मेरा जी ही नहीं चाहा, लेकिन फिर तो क्षण भर में ही हमें ज्ञात हो गया कि यहाँ हम राक्षसों की मरज़ी बिलकुल नहीं, इन सुकुमार दीखने वाले लेकिन अतिपराक्रमी सुदर्शन भाइयों का ही आदेश चलेगा। पलक झपकते न झपकते हमारी सेना के सभी वीर धराशायी हो चुके थे। प्रभो, मैं किसी तरह अपने प्राण बचा कर भागा।”

दशग्रीव लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ अपने भवन में इधर-से-उधर तेज़ी से चल रहा था। स्वेद-बिन्दुओं से ललाट चमक उठा था, व्याकुलता रोम-रोम से टपक रही थी और आतंक ने उसके सारे शरीर में डेरा डाल लिया था...।

रावण की चिन्तनधारा बहती चली जा रही थी—“खर, दूषण, त्रिशिरा तथा अन्य कई राक्षस जो सभी देवताओं तक के लिए दुर्जेय थे, उनका अकेले राम ने दो घड़ी में काम तमाम कर दिया! केवल प्रलयंकर महेश्वर ही ऐसा कर सकते हैं, किन्तु वे तो मेरे आराध्य हैं। वे हम राक्षसों का अनिष्ट कभी न करेंगे...। तब फिर कौन... कौन है यह दूसरा...??

दशानन का समस्त उद्वेग उसके हृदय में समा गया था। अचानक उसे तन्द्रा का-सा अनुभव हुआ, क्षण-भर के लिए वह गहरी समाधि में डूब गया, उसके मुखमण्डल से ज्योति की किरणें फूटने लगीं, साक्षात् बल, पौरुष को धारण करने वाला वह सुन्दर शरीर मानों देवताओं का आवास बन गया! उसके अधरों पर सुन्दर स्मित खेल उठा। पल-दो पल ठहरा, फिर उसकी समाधि भंग हो गयी और दशग्रीव एक बार फिर अपने आसुरिक बल-वैभव में दमक उठा। वह खुल कर हँसा, मानों उसकी सारी व्याकुलता, सारा उद्वेग उठाके के उस फव्वारे में बह निकला।

निश्चिन्त हो रावण स्वगत बोल उठा—अकम्पन का कहना है कि राम को युद्ध में जीतने की कल्पना करना भी मूर्खता है। बस एक ही उपाय है। उनकी पत्नी का हरण कर लो तो वे उसके वियोग में प्राण त्याग देंगे। बहुत प्रेम है उनका अपनी पत्नी पर। प्राण न भी त्यागें लेकिन अत्यन्त दुर्बल अवश्य हो जायेंगे...।

दशग्रीव ने निश्चय कर लिया। मन्त्रियों की सभा बुलवा कर कहा—“अकम्पन जो स्वयं देख आया है, आप लोगों ने सूपनखा के मुख से वह सब सुन ही लिया है। उन दोनों तपस्वियों ने जनस्थान पर अपना अधिकार कर लिया है। अकम्पन ठीक ही कहता है कि उनके साथ वहाँ जाकर युद्ध करना उचित नहीं है।”

सभी मन्त्री सम्मति में सिर हिला रहे थे क्योंकि दशानन के मन्त्रणा-गृह में मन्त्रीगण विरले ही अपना मत प्रकट करते थे। रावण विरोध न सुन सकता था, न सह सकता था। अतः मन्त्रियों का काम केवल अपने महाराज की बात सुन कर समर्थन करना, स्तुति करना भर रह गया था।

रावण आगे बोल उठा—“मेरे बहुत-से वीर, मेरे कई स्वजन उनके हाथों घड़ी-दो घड़ी में स्वर्ग सिधार गये। अब हमें बल से नहीं छल से आगे बढ़ना है। अकम्पन कहता है कि राम के प्राण सीता में बसे हुए हैं। मैं उनकी पत्नी सीता का अपहरण कर उन्हें इतना दुर्बल बना दूँगा कि स्वतः ही उनके प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। अतः मैं एकाकी जाकर उनकी पत्नी को उठा लाना चाहता हूँ। आप सब इस बात के गुण-अवगुणों पर विचार कर लें।”

उन सभी सभासदों को तो बस रावण के हर प्रस्ताव पर सहमति ही

जतानी थी...।

दशानन का रथ तो चौबीसों घण्टे द्वार पर सज्जित खड़ा रहता था, बस अपनी योजना बना, रथ में सवार हो वह एकाकी, पल-भर में मारीच-द्वीप पर उतर आया।

रावण की योजना में मारीच का स्थान था। मारीच का वह द्वीप तपोवन के समान था। मारीच जब से श्रीराम के शराघात से यहाँ आकर गिरा था, उसका जीवन ही दूसरा हो गया था। उसकी राक्षसी वृत्ति एकदम समाप्त हो गयी थी। जटाजूटधारी, वह वल्कल पहना करता था, कन्दमूल खाकर तपस्या में निरत रहता था।

रावण ने मारीच को मृगचर्म पर इस तरह तपस्या में बैठे देखा तो उसे हँसी आ गयी। रथ को उसने दूर ही छोड़ दिया था। वह हाथ जोड़ कर कुछ व्यंग्यपूर्वक ऊँचे स्वर में बोला—“नैकषेय महर्षि मारीच को पौलस्त्य दशग्रीव प्रणाम करता है।”

चौंक कर मारीच ने नेत्र खोले। आतुरतापूर्वक उठा और रावण को आदर के साथ ले जाकर आसन पर बिठाया। उसकी चरण-वन्दना कर, कन्द-मूल से उसका सत्कार कर, हाथ जोड़ कर बोला—“महाराजाधिराज ने इस सेवक पर कैसे कृपा की? आप एकाकी क्यों आये हैं?”

“मुझे बस तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है।” रावण ने खर-दूषण इत्यादि का वध सुना कर कहा—“राम ने जनस्थान पर अधिकार कर लिया, बहन सूपनखा को विरूप बना दिया, यह मेरे लिए असह्य है, मैं उनकी पत्नी का हरण करना चाहता हूँ।”

मारीच सिर से पैर तक थर्रा उठा। काँपते स्वर में बोला—“महाराज, यह अनर्थ कभी मत कर बैठियेगा। जिस किसी ने आपको यह सम्मति दी है वह समस्त राक्षस-कुल का विनाश करवाना चाहता है। प्रभो! आप नीतिज्ञ हैं, भूल जाइये कि जनस्थान कभी आपका था। युद्ध के लिए श्रीराम के समीप जाने की बात सोचना भी साक्षात् यम को निमन्त्रण देना है, और उनकी पत्नी का अपहरण...” मारीच भय के मारे पत्ते की तरह काँपने लगा। हाथ जोड़, घुटने टेक कर रो उठा—“महाराज! ऐसा घोर अशुभ कर्म कहीं कर मत बैठियेगा। श्रीराम जड़-मूल से हम सबको ऐसे उखाड़ फेंकेंगे कि इतिहास में भी कभी किसी की चर्चा न होगी। आप जानते ही हैं कि

जब मेरे भाई सुबाहु को इन्होंने मार दिया, मैं भी इनके बाण से आहत हो सौ योजन दूर समुद्र-तट पर मूर्च्छित आ गिरा। जब मूर्च्छा मिटी और मैंने अपने भाई और सहायकों की मृत्यु का समाचार सुना तो मैं भयंकर क्रोध से उन्मत्त हो उठा था। क्रोध को पिये मैं अवसर की ताक में था। जब कुछ मायावी राक्षसों ने मेरी सहायता करने का वचन दिया तो मैं पञ्चवटी में बदला लेने पहुँच गया। महाराज! मैं इनके दिव्यास्त्र की शक्ति देख चुका था। प्रकट आक्रमण करने का तो साहस जुटा न पाया। मैं और मेरे सहायक मृग बन कर इनकी पर्णकुटी के समीप गये थे। सोचा था दोनों भाइयों को पृथक्-पृथक् करके धोखे से मार देंगे। लेकिन हमें पता न था कि इन दोनों में से एक को भी धोखा देना सम्भव नहीं। बड़े ने देखते ही हमें पहचान लिया। दोनों भाई दूसरे मृगों के साथ खेल रहे थे, लेकिन हम पहुँचे तो तुरन्त धनुष चढ़ा लिया, हममें से किसी को भागने का अवसर ही नहीं मिला। सभी मायावी सहायक मारे गये, लेकिन पता नहीं, एक बार फिर उन्होंने मुझे जान से नहीं मारा। इस बार उनके शराघात से मैं इस द्वीप में आ गिरा! महाराजाधिराज! मैं आपसे सच कहता हूँ, तब से मुझे भयोन्माद हो गया है। मेरी माता ताड़का को भी इन्हीं बड़े साँवले ने एक ही शर में मार गिराया था। अब तो राम शब्द सुनते ही मेरे प्राण सूखने लगते हैं।” मारीच गिड़गिड़ाया, “महाराजाधिराज, मैं जानता हूँ कि प्रतिशोध की ज्वाला आपके अन्दर सुलग रही है, लेकिन यहाँ तो वह आप पर मृत्यु के रूप में मँडरा रही है। अगर आप अपनों को, अपनी स्वर्णपुरी को और स्वयं को बचाना चाहते हैं तो कृपया हे लंकेश! अपनी लंका में वापस लौट जाइये।”

लंकेश ने तमतमा कर अपना खड्ग खींच लिया, उसकी गर्जना से समस्त द्वीप गूँज उठा—“मारीच, मैं तुमसे उपदेश सुनने नहीं आया हूँ। तुमसे सहायता लेने आया हूँ। तुम जानते हो कि दशग्रीव प्रतिवाद नहीं सुना करता। मृत्यु को अपनी तरफ़ घसीटो मत। जो मैं कहता हूँ चुपचाप सुनो और आज्ञा-पालन करो। इस बार भी तुम्हें उनके सामने मृग का रूप धारण करना होगा—एक ऐसे अलौकिक मृग का जिसका चर्म पाने के लिए भगवान् भी लालायित हो उठें। मैं तुम्हें उनकी पर्णकुटी के समीप रथ से उतार दूँगा। तुम्हें उन्हें लुभा कर दूर ले जाना है—इतनी दूर कि लौटें भी

तो आधी घड़ी लगे उन्हें। फिर उनके बाण से कैसे बच कर निकल भागना है, यह सोचना तुम्हारा काम है। मैं इतने अन्तराल में उनकी त्रिभुवनसुन्दरी पत्नी का हरण कर लूँगा।”

दशानन के हर वचन पर मारीच भयविह्वल मानों धरती में धँसता चला जा रहा था। कुछ पल निस्तब्धता का राज चला, फिर रावण की वाणी गूँज उठी—“मारीच, तुम्हें अपने प्राण प्रिय नहीं हैं क्या? मेरे हाथों अभी सद्गति पाना चाहते हो क्या? मैं राक्षसेश्वर तुम्हारे पास सहायता माँगने आया हूँ और तुम मुझे आगा-पीछा समझा रहे हो। अब तुम्हें मेरे आदेश का पालन करना होगा। राम की पर्णकुटी के समीप स्वर्णमृग बन उन्हें प्रलुब्ध करो, जब वे तुम्हारे पीछे दूर चले जायें तो राम ही के स्वर में घोर विपदा में पड़े किसी आर्त के समान लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारना और फिर चाहे जहाँ भाग जाना।” रावण ने प्रलोभन दिया—“मारीच, तुम्हें मेरी सहायता करनी ही होगी, मैं सफल होकर लौटने पर तुम्हें एक पूरे प्रदेश का राजा बना दूँगा, सुख से जीवन व्यतीत करना।”

हाथ जोड़े मारीच हँस कर बोला—“दशानन, मृत्यु के बाद मैं किस राजपाट को भोगूँगा भला? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ राजन् कि इस अभिप्राय के साथ उनके सम्मुख जाकर जीवित बचने की आशा रखूँ। उन्होंने दो बार मुझे जीवनदान दिया है, अब नहीं छोड़ेंगे। महाराजाधिराज, जाते-जाते इतनी-सी बात और बता जाऊँ कि सीता-हरण के इस चिन्तन के आने के साथ-ही-साथ आप भी अपने-आपको मृत ही समझें। चलता हूँ दशानन। आपका दास हूँ लेकिन आपके हाथों मरना मुझे प्रिय नहीं, आपने तो मुझे सुनहरा मौक्रा प्रदान किया है, श्रीराम के बाण से मोक्ष-प्राप्ति का लाभ उन्हीं को मिलता है जिन्होंने कभी सत्कर्म किये हों। धन्यवाद दशानन, अनेकानेक धन्यवाद।” कहते हुए भावविह्वल मारीच ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

इधर दशानन ने भी उस मार्ग की चरण-धूलि सिर-आँखों लगायी जहाँ से मारीच गुजरा था। अचानक वह गहरी समाधि में डूब गया, उसके मुखमण्डल से ज्योति की किरणें फूटने लगीं और दशानन उसी समाधि-अवस्था में उस एकान्त वन में पुकार उठा—“मारीच, तुम कितना बड़ा सत्य कह गये! यह दशानन भी तो इस सत्य को जान चुका है कि खर-दूषण-त्रिशिरा इत्यादि नाना वीरों का पल-भर में संहार करने वाले और कोई नहीं यह पुरुषोत्तम

श्रीराम ही हैं जो समस्त राक्षस-कुल का संहार कर उन्हें परम पद प्राप्त कराने के लिए धरती पर उतर आये हैं।”

दशग्रीव का आर्तनाद मारीच-वन में गूँज उठा—“हे अम्बे जानकि, हे मेरे सर्व-आराध्य श्रीराम! पौलस्त्य दशग्रीव आपकी शरण में आ रहा है। भले जगत् की दृष्टि में सारा घटना-चक्र एकदम से विपरीत लगे, लेकिन भगवन्! मेरी आज आपसे यही विनती है कि आपको अब सारे राक्षस-कुल का संहार करना होगा ताकि आपके शरों से, आपके सम्मुख, आप ही का दर्शन करते हुए, देहत्याग करके स्वयं दशग्रीव और उसके सभी स्वजन, सभी अनुचर, परम पद को प्राप्त करें!”

‘अग्निशिखा’, अक्तूबर २०१३ से

—वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मातैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,

पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www.aurosociety.org

आवरण ३ स्फुट वचन

(दैनन्दिनी के स्थान पर श्रद्धा पर कुछ स्फुट वचन—सं.)

भगवान् की कृपा पर अटल श्रद्धा रखो।

*

भगवान् की 'कृपा', 'इच्छा' और 'क्रिया' पर पूरी श्रद्धा रखना जारी रखो और सब कुछ ठीक हो जायेगा।

*

'भागवत कृपा' हमेशा तुम्हारे साथ है। नीरव मन से अपने हृदय में एकाग्र होओ और निश्चय ही तुम उस पथ-प्रदर्शन और सहायता को पा लोगे जिसके लिए तुम अभीप्सा करते हो।

*

'भागवत कृपा' की क्रिया सम्पूर्ण और सर्वांगीण परिणाम लाये इसके लिए श्रद्धा को **सम्पूर्ण और सर्वांगीण** होना चाहिये।

*

'भागवत कृपा' हमें कभी निराश न करेगी—हमें यह श्रद्धा अपने हृदय में निरन्तर बनाये रखनी चाहिये।

*

हमारे अन्दर श्रद्धा का अभाव ही हमारी सीमाओं की रचना करता है।

*

'भागवत कृपा' हमारे साथ है और हमें कभी नहीं छोड़ती—तब भी नहीं जब सब कुछ अन्धकारमय प्रतीत होता है।

*

असफलता और सफलता दोनों में 'भागवत कृपा' हमेशा मौजूद रहती है।

*

अन्तिम विश्लेषण में, 'भागवत कृपा' में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास ही 'परम प्रज्ञा' है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४ से

Date of Publication: 1st July 2021
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70



मुखपृष्ठ पुष्प

सिद्धि

हमारे प्रयासों का लक्ष्य

(श्रीमों द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

बानस्यतिक नाम: Delonix regia